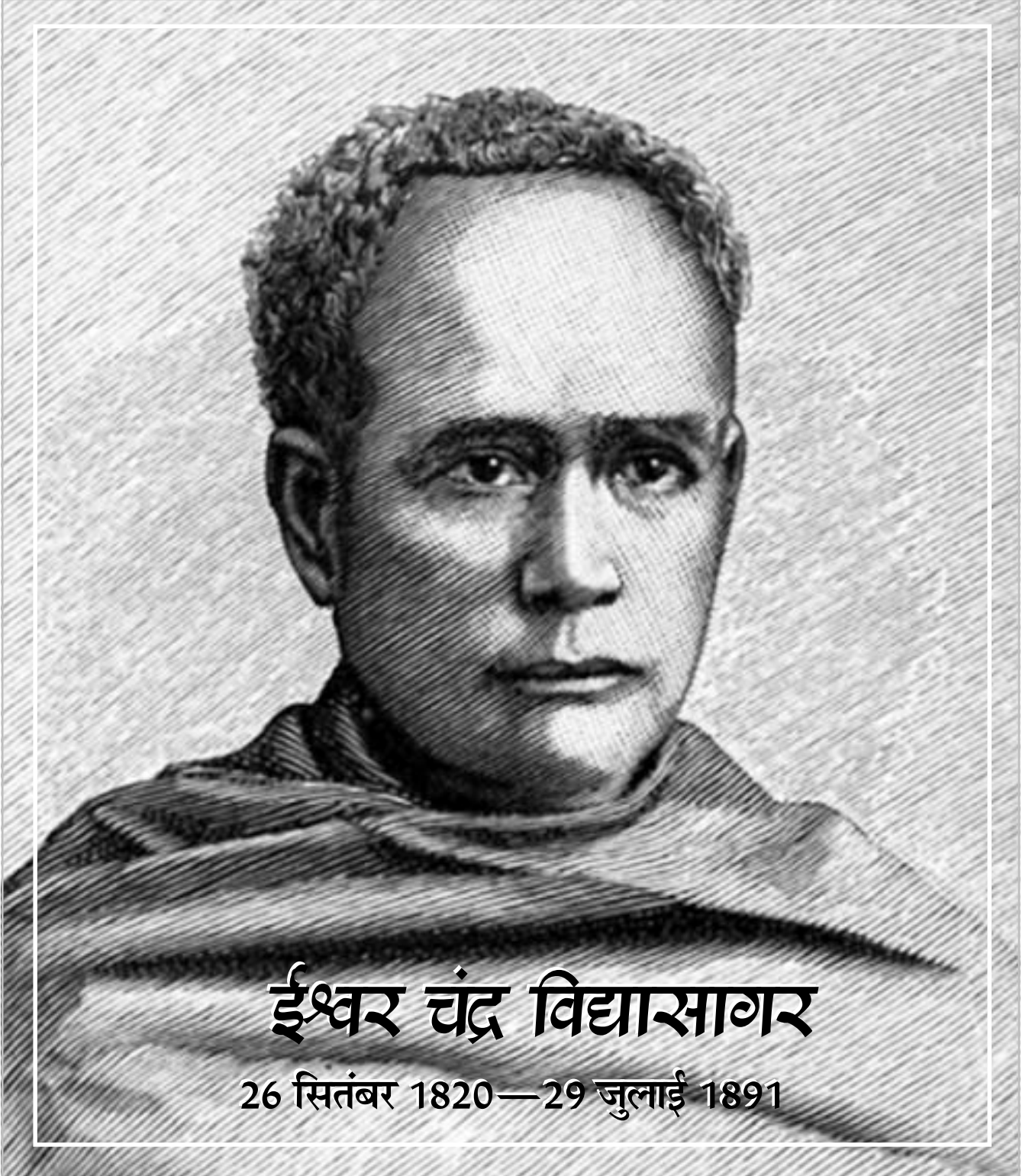


समरथ

जुलाई-सितम्बर, 2019 • नई दिल्ली



ईश्वर चंद्र विद्यासागर

26 सितंबर 1820—29 जुलाई 1891

नाहि तो जनम नसाई

दुआ



फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

आइये हाथ उठाएँ, हम भी
हम जिन्हें रस्म-ए-दुआ याद नहीं
हम जिन्हें सोज़-ए-मोहब्बत के सिवा
कोई बुत, कोई खुदा याद नहीं

आइये अर्ज़ गुज़ारें कि निगारे हस्ती
ज़हर-ए-इमरोज़ में शीरीनिए फ़रद' भर दे
वो जिन्हें ताब-ए-गिरां बरि-ए-अय्याम् नहीं
उनकी पलकों पे शबो रोज़ को हलका कर दे

जिनकी आंखों को रूख-ए-सुबह का यारा भी नहीं
उनकी रातों में कोई शमा मुनव्वर कर दे
जिनके कदमों को किसी रह का सहारा भी नहीं
उनकी नज़रों पे कोई राह उजागर कर दे।

1. वर्तमान का विष
2. भविष्य की मिठास
3. जिंदगी का भारी बोझ उठाने की शक्ति

असहयोग आंदोलन के दौरान जब पूरे देश में विदेशी शासन के खिलाफ़ जबरदस्त रोष उमड़ा हुआ था और हमारी आजादी की लड़ाई पूरी तरह एक जनआंदोलन बन चुकी थी, पूर्वी उत्तर प्रदेश में चौरा-चौरी की घटना हुई। जब कुछ आंदोलनकारियों ने एक पुलिस अफसर की कार्रवाई पर उत्तेजित होकर कस्बे के थाने में आग लगा दी। जिसमें 22 पुलिसकर्मी जलकर मर गए। इस घटना से विचलित होकर गांधीजी ने फरवरी 1922 में अपनी यह तहरीक वापिस ले ली। क्योंकि वह किसी भी हालत में इसे हिंसा के रास्ते पर जाते हुए नहीं देख सकते थे। उनके इस निर्णय की खुद कांग्रेस के कई दिग्गज नेताओं ने यह कहते हुए आलोचना की कि इस तरह के जनसंघर्ष के दौरान हिंसा की छुटपुट घटनाओं का होना कोई असाधारण बात नहीं है। मगर गांधीजी उन लोगों में से नहीं थे जो अपने आदर्शों के साथ कोई समझौता करें। अहिंसा उनकी विचारधारा का मूल उसूल था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि किसी भी सभ्य समाज में हिंसा के लिए कोई जगह नहीं। उनका कहना था कि अहिंसा कायरता नहीं वीरता और शौर्य की प्रकाशा है।

आज देश में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है जो गांधीजी के अहिंसा की विचारधारा को कमजोरी समझते हैं और इसे बहुत सी बुराईयों की जड़ मानते हैं। लेकिन उन्हें गांधी का यह कथन याद नहीं आता कि अगर मुझे सिर्फ कायरता और हिंसा के दरम्यान किसी एक का चयन करना हो तो मैं हिंसा का पक्ष लूंगा और मैं चाहूंगा कि देश कायरता के साथ अपनी बेइज्जती और गुलामी का मूक तमाशाई बनने के बजाय अपने गौरव की रक्षा के लिए हथियार उठाए।

इस साल हम गांधीजी की 150वीं जयंती मना रहे हैं। लेकिन क्या हम कभी इस पर विचार करते हैं कि हिंसा हमारी रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा बनती जा रही है। आतंकवाद, उग्रवाद, धार्मिक असहिष्णुता, मॉब लिंगिंग आदि ने जनजीवन को नरक बनाकर रख दिया है। यह सारी समस्याएं निश्चित ही बहुत से कारणों से उपजी हैं। जिनके निवारण के बिना इनसे छुटकारा संभव नहीं लेकिन क्या यह सत्य नहीं है कि आपके उद्देश्य कितने ही प्रशंसनीय क्यों न हों उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा का मार्ग कैसे जायज हो सकता है, जो स्वयं समाज के लिए नासूर है।

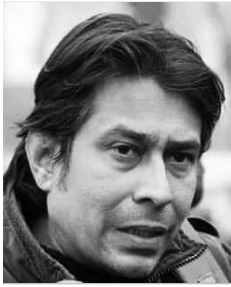
इसलिए आज इसकी जरूरत सबसे ज्यादा है कि गांधीजी की अहिंसा की विचारधारा को उपदेश, प्रवचन और नसीहत के दायरे से निकालकर इसे एक जनआंदोलन का रूप दिया जाए। जैसा कि हमारी आजादी की लड़ाई के दौरान नजर आता है और लोगों को बड़ी संख्या में इस आंदोलन के साथ जोड़ने की कोशिश की जाए जिससे हमारी नई पीढ़ी इस ऐतिहासिक सत्य के रूबरू हो सके कि अहिंसा की शक्ति दुनिया की सबसे बड़ी ताकत को अपने कदमों में झुका चुकी है और स्वयं हम अपने जमाने में देख चुके हैं कि नेल्सन मंडेला और मार्टिन लूथर किंग ने अहिंसा के सिद्धांतों के बल पर कितनी बड़ी-बड़ी लड़ाईयां जीती हैं।

2 • समरथ

जुलाई-सितम्बर, 2019

नए भारत के पंचशील की कथा कही साथी

■ अंशु मालवीय



2019 के आम चुनावों के नतीजों ने हमें जो दिखाया है उसकी तमाम वजहें विश्लेषकों और विद्वानों ने गिनाई है, उनमें ज्यादातर वजहें जायज़ हैं और उसका कुछ न कुछ असर नतीजों पर पड़ा है। लेकिन तीन ऐसी प्रमुख वजहें हैं, जो इन नतीजों को बहुत निर्णायक बनाती हैं। इन चुनावों ने भारतीय समाज में 'सभ्यता की लड़ाई' को ऐसे दौर में पहुंचा दिया जहां की संकल्पना' के समाप्त होने का खतरा पैदा हो गया है। जिस 'भारत की संकल्पना' को पिछले तकरीबन 150 सालों की आजादी और समाज परिवर्तन की धाराओं ने बड़ी मेहनत और मेधा से तैयार किया था। क्या हैं ये तीन कारण :

- भारतीय समाज का बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक, ध्रुवीकरण और कॉर्पोरेट समर्थित अंध-राष्ट्रवाद की निर्णायक विजय।
- पिछले 150 सालों में विकसित समाज परिवर्तन की धारा विशेष रूप से जाति विरोधी चेतना की मानीखेज़ पराजय और ब्राह्मणवाद की विजय।
- तीसरा और अंतिम कारण, जिसे हम कारणों का कारण कह सकते हैं वह है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कल्पित प्रोजेक्ट का अंतिम दौर में पहुंच जाना। तीसरा और अंतिम कारण हमारे इस नोट के सन्दर्भ में सबसे ज्यादा प्रासंगिक है क्योंकि यही कारण ऐसा है जो सब्जेक्टिव है, यानी हालात में मानवीय हस्तक्षेप का नतीजा है।

इन तीनों कारणों के विस्तार में न जा कर हम आज के कार्यभार, विशेष रूप से सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यभार पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

उनके पास एक कहानी है

'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' में नेहरू यह सवाल पूछते हैं की 'भारत माता' कौन है? यह सवाल पूछने के ज़रिये नेहरू 'भारतीय सभ्यता' जैसी किसी चीज़ की तलाश कर रहे थे। इस सभ्यता में श्रृंखला और टूटी हुई कड़ियों को तलाशते हुए नेहरू प्राचीन सभ्यता से लेकर आधुनिक समाज के जन्म की एक कहानी कहते हैं। यह कहानी हम सब की कहानी है। इसे सिर्फ़ नेहरू ने ही नहीं कहा बल्कि हजारों साल में विभिन्न मूल्यों, संस्कृतियों और विचारों की टकराहट से होता हुआ जो कच्चा माल आधुनिक युग के दहन पात्र में चढ़ाया गया—यह उसकी कहानी है। इसे भारत की सभ्यता ने लिखा और संस्कृतियों ने सुनाया था।

जब आजादी, बराबरी और इन्साफ़ की विभिन्न धाराओं के मंथन से भारतीय राष्ट्र जन्म ले रहा था—उस समय सिर्फ़ अमृत नहीं जहर भी सतह पर उतराने लगा था। जब हमारे नेता, मनीषी और आम जान मिल कर इस देश की चादर बुन रहे थे कुछ और लोग भी थे जो भारतीय समाज के सबसे दकियानूसी और हिंसक विचारों को लेकर आगे बढ़ रहे थे। उनके पास भारतीय इतिहास और स्मृति की एक प्रतिकथा मौजूद थी। इनकी इस प्रतिकथा में तीन हजार साल का एक नैरेटिव तैयार किया गया। इस प्रतिकथा का नायक प्राचीनता के बोध से दबा एक आधुनिक हिन्दू था—यह हिन्दू पुरुष, सवर्ण—मध्यवर्गीय था—जिसे समय समय पर विदेशी आक्रांताओं, विधर्मियों और 'अपने' ही समाज के दलितों ने हमे परेशान किया था। वह चिंतित था और उसे अपने धर्म और स्त्रियों की रक्षा 'दूसरों' से

करनी थी। इस हिन्दू के नैरेटिव ने सिर्फ विधर्मियों और विजातियों को ही नहीं बल्कि एक समावेशी और साझा भारत की संकल्पना को भी अपना दुश्मन मान लिया। फिर इस दुश्मनी की एक कहानी तैयार की गयी। इस कहानी का भारत एकहरा, अकेला, शोषक और हिंसक था और उसे अपनी इस छवि पर गर्व था। इस कहानी के लेखक थे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं उनके अनुषांगिक संगठन। उन्होंने भारत की आजादी के पूर्व ही अपनी कहानी बहुत मेहनत से लिखनी और सुनानी शुरू की।

यह उनकी खूबी थी की उन्होंने अपनी कहानी को एक सभ्यता विमर्श में तब्दील कर दिया। फिर इस विमर्श को लोगों तक पहुँचाने के लिए क्रमबद्ध रूप से संगठनों, संस्थाओं और व्यक्तियों के कई नेटवर्क तैयार किये। साथ ही तैयार की कार्यकर्ता और समर्थकों की एक विराट फ़ौज। आधुनिक तरीकों के माध्यम से यह नेटवर्क देशव्यापी ही नहीं बल्कि विश्वव्यापी हो गया। एक सामाजिक—

सांस्कृतिक संगठन की बुनियाद पर उन्होंने एक जन विरोधी राजनीति तैयार की। उनकी बनार्यों इन संस्थाओं ने लोगों को सिर्फ विचार ही नहीं दिए बल्कि इन विचारों के प्रसार के लिए भौतिक ढाँचे भी प्रदान किये। उदहारण के लिए 'सरस्वती शिशु मंदिर' की श्रृंखला ही काफी है। चप्पे-चप्पे पर फैले इन विद्यालयों ने उनकी कहानी कहने के लिए मंच ही नहीं दिए बल्कि बाबरी मस्जिद ध्वंस आंदोलन के दौरान कार्यकर्ताओं के ठहरने के हेतु शिविर और पूड़ी के पैकेट तैयार करने के लिए कारखाने भी मुहैया कराये।

इसका प्रभाव हुआ—एक वैकल्पिक इतिहास बोध का प्रसार। सबसे निर्णायक ये हुआ कि उत्पीड़ित भी उत्पीड़कों की भाषा बोलने लगे। यह इतिहासबोध—मिथक को इतिहास और इतिहास को मिथक की तरह पेश करता है। इस इतिहासबोध के प्रभाव में भारतीय समाज का भीतरी तौर पर साम्प्रदायिकरण और फासिस्टीकरण हुआ। किसी भी राज्य में हर दौर में कम या ज्यादा मात्रा में फासिस्ट होने की आशंका हमेशा मौजूद रहती है। लेकिन

‘डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया’ में नेहरू... प्राचीन सभ्यता से लेकर आधुनिक समाज के जन्म की एक कहानी कहते हैं। ‘यह कहानी हम सब की कहानी है। इसे सिर्फ नेहरू ने ही नहीं कहा बल्कि हजारों साल में विभिन्न मूल्यों, संस्कृतियों और विचारों की टकराहट से होता हुआ जो कच्चा माल आधुनिक युग के दहन पात्र में चढ़ाया गया—यह उसकी कहानी है। इसे भारत की सभ्यता ने लिखा और संस्कृतियों ने सुनाया था।’

उससे ज्यादा खतरनाक होता है किसी समाज का फासिस्ट होते जाना। भारतीय समाज में विशेष रूप से अल्पसंख्यक, दलित, महिला, आदिवासी, और अन्य वंचित समुदायों के ऊपर बढ़ते हमलों तथा सामान्य रूप से पूरे समाज में बढ़ती हिंसा—इस फासिस्टीकरण की वजह से मुमकिन हुई है।

समाज में बढ़ती बहुआयामी हिंसा उसी कहानी का नतीजा है जो हमे संगठनों-संस्थानों के एक विशाल नेटवर्क ने सुनाई है। क्या यह इतिहास का व्यंग्य नहीं है की आज के भारत के इतिहास बोध का निर्माण आर.एस.एस. ने किया है।

हमारे पास भी एक कहानी है और यह असली कहानी है। उन्होंने हमारी कथा के सामने अपनी प्रतिकथा रखी और हमारा समाज उस प्रतिकथा को ही असली मानने लगा। हमारी कथा भारत के हजारों साल की कथा है। सिंधु से लेकर वेद तक, बुद्ध से गाँधी तक, कालिदास से कल्हड़, मौलाना

आजाद से इराबोट सिंह, अकबर से नेहरू तक, कबीर से अम्बेडकर तक, रजिया से सावित्रीबाई तक, खुसरो से रवीन्द्रनाथ तक, गागी से रमाबाई तक, चार्वाक से भगत सिंह तक, बसवेश्वर से नामदेव तक... गाँव-दर-गाँव, शहर-दर-शहर, जाने-अनजाने, नायक-नायिका, कारनामे, रचनात्मकता और पराक्रम की अनगिनत कथाएं—हमारे पास असली कहानी है। पर ये कहानी हम अपने देश को सुना नहीं सके।

इतने सारे रंग-बिरंगे सहयोगी और अंतर्विरोधी रेशों को एक कथा में पिरोने के लिए जो सबसे ज्यादा जरूरी होता है कथाकार का inclusive होना। हम देश से inclusive होने की उम्मीद करते रहे लेकिन हमने inclusion (समावेशन) से ज्यादा exclusion (बहिष्करण) पर ध्यान लगाया। हमारी कोई साझा भारतीय कथा तैयार ही नहीं हुई। हम सभ्यता के फलक पर सोच ही नहीं पाए। हमने मतभेद, विचारधाराओं, उप-विचारधाराओं, विमर्शों, उप-विमर्शों के खाने में खुद को इतना

विभाजित कर लिया कि वह कहानी कहने में हम अक्षम हो गए जिसे देश सुनना चाहता था और जिस कथा की हम सन्तान थे। हमारी कथा एक सूत्र न होकर fractured ही रही।

यह उस भारत की कथा है जिसे हजारों साल में गढ़ा गया है। यह वह Idea of India (भारत की संकल्पना) की कथा है जिसे भारत की आजादी की लड़ाई और समाज परिवर्तन की विभिन्न धाराओं ने मिलकर रचा था। इस कथा की गूँज हमारे संविधान में सुनाई देती है। इस Idea of India ने सुनिश्चित किया था कि धार्मिक, जातीय, लैंगिक, भाषाई और नस्लीय किसी आधार पर हमारे समाज में भेदभाव नहीं होगा। और सबको अवसर की समानता उपलब्ध होगी। आजादी के बाद का हमारा इतिहास दो तरह की भारत कथाओं के संघर्ष की दास्तान है। उनका भारत जो संकीर्ण और इकहरा है और हमारा भारत जो प्रगतिशील और रंग-बिरंगा है।

हमने अपनी कहानी को taken for granted लिया। हमें यह महसूस हुआ कि स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित हमारी यह भारत कथा स्वयं सिद्ध है। यह संविधान और लोकतान्त्रिक ढाँचों की बदौलत खुद-ब-खुद प्रसारित होती रहेगी। लेकिन 'उनके' साथ न संविधान था न लोकतान्त्रिक ढाँचें—उनके पास उनके संकीर्ण भारत की कथा थी और समर्पित कथावाचकों की फौज। उन्होंने बखूबी अपनी प्रतिकथा लोगों के दिमाग में बैठा दी और एक छद्म इतिहासबोध का निर्माण किया।

लेकिन हमें याद करना होगा फिर से—हमारे पास भी एक कथा है। एक बहुलतावादी-बहुसांस्कृतिक भारत की, एक आजादी और बराबरी पसंद भारत की।

हम अपनी कहानी कैसे सुनाएँ

सभ्यता की कहानियाँ संस्कृति ही सुना सकती है। राजनीतिक संघर्षों में तात्कालिकता का दबाव होता है। लेकिन संस्कृति की कहानी दूरगामी होती है उसके पैमाने हजारों साल के होते हैं। हमारी भारत कथा ऐसी ही होगी—हजारों साल के पैमाने पर फैली इंसाफ पसंद—बहुलतावादी भारत की कथा। इतिहास और संस्कृति की समावेशी कथा—जिसमें अंतर्विरोधों को न्यूनतम साझा के पैमाने से हल किया जा सके। जिसमें राष्ट्र से आगे जाकर हम एक भारत की सभ्यता की कहानी सुना सकें और उसके भविष्य का चित्र बना सकें। हमें हमारी भारत कथा और अपने कथावाचकों की फौज तैयार करनी होगी। हमें एक नए सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन की रूप रेखा बनानी होगी।

परिवर्तन का ज्यादातर नैरेटिव राजनीतिक परिभाषाओं में

क़ैद होकर रह गया है। राजनीतिक हलकों में सामाजिक समस्याओं के भी राजनीतिक हल खोजे जाते हैं और संस्कृति की स्थिति दायरे दर्जे की होती है। आमतौर पर संस्कृति को सांस्कृतिक कार्यक्रम के रूप में समझा जाता है। इसलिए सांस्कृतिक कर्म राजनीति के आगे चलने वाली मशाल न होकर उसका पिछलग्गू बन जाता है। राजनीति का विमर्श तात्कालिक रूप से सटीक होने की शर्त की वजह से विभाजनकारी है। लेकिन संस्कृति में विमर्श के पांच कम से कम ऐसे दायरे बनते हैं जिसमें विचारधारा—गुट—दल आदि के सीमित दायरों से निकलकर व्यापक सहमति बनाई जा सकती है। ये पांच दायरे हैं—समानता, जाति विनाश, स्त्री-मुक्ति, सद्भावना और प्रकृति तथा आदिवासी। ये पंचशील ऐसे हैं जिसके दायरे में व्यापक सहमति और सामंजस्य के साथ हमारी 'भारत कथा' सुनाई जा सकती है।

हमारा कथावाचन दो तरीकों से चलेगा। पहला कार्यक्रमों और आयोजनों की श्रृंखला दूसरा हमारी अपनी संस्थाओं (ढाँचों) का निर्माण। सांस्कृतिक कहने का आशय है सामाजिक-साँस्कृतिक। अंतर-सामुदायिक सहभोज, अंतर्जातीय-धार्मिक विवाहों में मदद-आयोजन, मेलों का आयोजन, एवं भागीदारी (मेले यानी वही मेले जो समाज में आयोजित होते हैं) खेल क्लबों का निर्माण, गांव-गाँव, मोहल्ले-मोहल्ले सांस्कृतिक कार्यक्रम और नाट्य-उत्सवों का आयोजन, धर्म-सुधार, सद्भावना एवं साझी विरासत पर कार्यशालायें—इसमें नए-नए फॉर्मस तलाशें और ईजाद किये जा सकते हैं। दूसरा है अपनी संस्थायें और ढाँचें तैयार करना—विद्यालय, शिशु गृह, सार्वजनिक उत्सव गृह, प्राकृतिक खेती के उद्यम, साझी रसोई आदि। यह सूची बहुत लम्बी हो सकती है।

अगर हम आजादी के आंदोलन के दौरान विकसित राजनीति को देखें तो हम पाएंगे कि उसका आधार एक सशक्त समाज सुधार आंदोलन रहा है, गाँधी तो अक्सरहां रचनात्मक कार्यक्रम को राजनीति से ज्यादा महत्व देते दिखते हैं। लेकिन आजादी के बाद का समय इस बात का गवाह रहा है कि कैसे सेकुलर-समावेशी या प्रगतिशील राजनीति बगैर किसी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के विकसित हुई है। राजनीति के नीचे सांस्कृतिक आन्दोलन का कोई ठोस आधार ही नहीं रहा। ज़ाहिर है नुक्कड़ नाटक समूह, लेखक संगठन या लघु पत्रिका एक हिस्सा तो हो सकते हैं लेकिन उसे सांस्कृतिक आन्दोलन समझना हमारी भूल है।

तो साथियों! हमारे पास भी एक भारत कथा है—उसे एक सूत्र में पिरोना और उसे देश को सुनाना—यही हमारा आज का काम है—जिसे बहुत पहले शुरू हो जाना था।

सांप्रदायिकता और संस्कृति के घालमेल पर क्या कहते थे प्रेमचंद

■ नासिरुद्दीन

‘साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।’

139 साल पहले 31 जुलाई को धनपत राय पैदा हुए थे। हम उन्हें प्रेमचंद के नाम से जानते और याद करते हैं। जी, मशहूर साहित्यकार कलम का सिपाही प्रेमचंद! उनकी मौत भी 83 साल पहले हो चुकी है। यानी, कुल जमा 56 साल की उम्र पायी। ऊपर की लाइनें उन्हीं की हैं। 1936 की।

आज प्रेमचंद क्यों ?

एक नज़र में लग सकता है कि आठ दशक पहले जो शख्स इस दुनिया से जा चुका है, उसे याद करना महज़ एक रस्म अदायगी ही है। क्योंकि जब वे लिख रहे थे तो देश गुलाम था। आज़ादी की लड़ाई लड़ी जा रही थी। नया भारत बनाने के ढेरों ख्वाब थे। उस वक्त की समाजी-सियासी ज़रूरत कुछ और ही रही होगी।।



चुनौतियाँ भी एकदम अलग थीं। हाँ, इतना ज़रूर है कि उनकी लिखी बातें उस वक्त को समझने के लिए ज़रूर कारगर होंगी। मगर रचनाओं का जो भंडार वे जमा कर गए, अगर उन पर नज़र दौड़ाई जाए तो वे आज भी ज़िंदगी और समाज को समझने में निहायत मददगार है। इसलिए प्रेमचंद को याद करना, महज़ एक सालाना रस्म पूरा करना नहीं है।

प्रेमचंद और साम्प्रदायिकता का सवाल

आज़ादी के बाद हमने अनेक समाजी काम अधूरे छोड़े। इसलिए सत्तर साल बाद भी ऐसे ढेरों सवालों से हम हर रोज़ टकरा रहे हैं, जो सवाल

मुल्क के सामने आज़ादी से पहले भी दरपेश थे। प्रेमचंद के दौर में भी फिरकापरस्ती यानी साम्प्रदायिकता, नफ़रत फैलाने और देशवासियों को बाँटने का काम कर रही थी।

आज़ादी के आंदोलन की पहली पाँत के लीडरों की तरह ही प्रेमचंद का मानना था कि स्वराज के रास्ते में साम्प्रदायिक नफ़रत बहुत बड़ी बाधा है।

इस सवाल के इर्द-गिर्द उनकी कई टिप्पणियाँ हैं। 1934 में एक लेख में प्रेमचंद कहते हैं कि 'हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं जो अपना छोटा सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।'

साम्प्रदायिकता और संस्कृति

आज हम पाते हैं कि साम्प्रदायिकता के नफ़रती विचार की यही कोशिश होती है कि रोज़मर्रा की ज़िंदगी में आम भारतीयों के बीच फर्क की दीवार खड़ी की जाए। मज़हबी समूहों को सांस्कृतिक रूप में जुदा-जुदा साबित किया जाए। प्रेमचंद तो इसे दशकों पहले बखूबी समझ रहे थे। 15 जनवरी 1934 को छपी उनकी एक मशहूर टिप्पणी है—साम्प्रदायिकता और संस्कृति।

वे इसमें रेखांकित करते हैं—'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह संस्कृति की खोल ओढ़कर आती है। हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को।

दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं, कि अब न कहीं मुस्लिम संस्कृति है, न कहीं हिन्दू संस्कृति और न कोई अन्य संस्कृति।'

तो अब कौन सी संस्कृति है, वे जवाब देते हैं, 'अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक।'

संस्कृति और धर्म

संस्कृति को धर्म से घालमेल करने की राजनीति पुरानी रही है। वे बहुत ही साफ़ तौर पर कहते हैं, 'संस्कृति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है लेकिन ईसाई संस्कृति और मुस्लिम या हिन्दू संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है।'

क्या बोली-बानी में धार्मिक फर्क है

प्रेमचंद हिन्दुओं और मुसलमानों को सांस्कृतिक रूप से अलग साबित करने के सारे तर्कों को बारी-बारी से बड़ी सहजता और तार्किक तरीके धराशायी करते हैं। वे भाषा का सवाल उठाते हैं और पूछते हैं कि 'तो क्या भाषा का अन्तर है?' उनका जवाब है, 'बिल्कुल नहीं। मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्ली भाषा कह लें, मगर मदरासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है जैसे मदरासी हिन्दू के लिए संस्कृत।'

हिन्दू या मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं, सर्व-साधारण की भाषा बोलते हैं चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी, बांग्ला हो या मराठी। बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है, जिस तरह बंगाली हिन्दू। दोनों एक ही भाषा बोलते हैं।

खाने-पीने का कितना फर्क है..

हमारे समय में भी साम्प्रदायिकता की जड़ में खान-पान बड़ा मुद्दा है। लगता है प्रेमचंद के समय भी था। इसीलिए वे कहते हैं—'अगर मुसलमान माँस खाते हैं तो हिन्दू भी अस्सी फीसदी माँस खाते हैं। ऊँचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, ऊँचे दरजे के मुसलमान भी।

नीचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, नीचे दरजे के मुसलमान भी। मध्यवर्ग के हिन्दू या तो बहुत कम शराब पीते हैं, या भंग के गोले चढ़ाते हैं जिसका नेता हमारा पण्डा-पुजारी क्लास है।'

गाय का सवाल, हमारे बीच अरसे से रहा है। प्रेमचंद भी इसको छोड़ते नहीं है। वे लिखते हैं, 'हाँ, मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और उनका माँस खाते हैं लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियाँ मौजूद हैं, जो गाय का माँस खाती हैं यहाँ तक कि मृतक माँस भी नहीं छोड़तीं, हालाँकि बधिक और मृतक माँस में विशेष अन्तर नहीं है।'

इसके बाद वे एक अहम सवाल पूछते हैं, 'संसार में हिन्दू ही एक जाति है, जो गो-मांस को अखाद्य या अपवित्र समझती है। तो क्या इसलिए हिन्दुओं को समस्त विश्व से धर्म-संग्राम छेड़ देना चाहिए?'

प्रेमचंद के साथ हम आज क्यों करते

कल्पना करने में कोई हर्ज नहीं है। इसलिए हम कल्पना करें कि आज प्रेमचंद यह लिखते और ऐसे सवाल करते तो उनके साथ क्या-क्या हो सकता था? क्या हम धीरज के साथ उनकी बात पढ़ते-सुनते-गुनते-विचार करते या...

इसी तरह वे पहनावे के बारे में चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि एक इलाके के हिन्दू और मुसलमान स्त्री-पुरुष लगभग एक जैसे कपड़े पहनते हैं। वे लिखते हैं कि 'बंगाल में जाइए, वहाँ हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ दोनों ही साड़ी पहनती हैं।' उनके मुताबिक, 'संगीत और चित्रकला भी संस्कृति का एक अंग है, लेकिन यहाँ भी हम कोई सांस्कृतिक भेद नहीं पाते। वही राग-रागनियाँ दोनों गाते हैं और मुगल काल की चित्रकला से भी हम परिचित हैं।'

फिर किस संस्कृति की रक्षा

सांस्कृतिक रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फर्क के तर्क को जर्मीदोज़ करने के बाद वे सवाल करते हैं, 'फिर हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना जोर बाँध रही है।' उनके मुताबिक, 'वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड। और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं जो साम्प्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मंत्र है और कुछ नहीं।'

साम्प्रदायिक संगठनों के चरित्र के बारे में भी उनकी राय पढ़ ली जाए। वे लिखने से परहेज नहीं करते कि '...इन संस्थाओं को जनता के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं, उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें...'

प्रेमचंद के मुताबिक, 'यह ज़माना साम्प्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके जिससे यह अंधविश्वास, यह धर्म के नाम पर किया गया पाखण्ड, यह नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके।'

आम जन के पक्ष से बोलते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, 'उस संस्कृति में था ही क्या, जिसकी वे रक्षा करें। ...उसे आज अपने जीवन की रक्षा की ज्यादा चिन्ता है, जो संस्कृति की रक्षा से कहीं आवश्यक है। उस पुरानी संस्कृति में उसके लिए मोह का कोई कारण नहीं है। और साम्प्रदायिकता उसकी आर्थिक समस्याओं की तरफ से आँखें बन्द किए हुए ऐसे कार्यक्रम पर चल रही है, जिससे उसकी पराधीनता चिरस्थायी बनी रहेगी।'

राष्ट्र का उद्धार कैसे होगा

एक दूसरी टिप्पणी में वे 1932 इसी बात को कुछ यों कहते हैं, 'राष्ट्र के सामने जो समस्याएं हैं, उसका सम्बन्ध हिन्दू, मुसलमान सिक्ख, ईसाई सभी से है। बेकारी से सभी दुखी हैं। दरिद्रता सभी का गला दबाये हुए है। नित नयी-नयी बीमारियाँ पैदा होती जा रही हैं। उसका वार सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से होता है।'

कर्ज की इल्लत में सभी गिरफ्तार हैं। ऐसी कोई

सामाजिक, आर्थिक, या राजनीतिक दुरवस्था नहीं है, जिससे राष्ट्र के सभी अंग पीड़ित न हों। दरिद्रता, अशिक्षा, बेकारी, हिन्दू और मुसलमान का विचार नहीं करती। हमारे किसानों के सामने जो बाधाएँ हैं, उनसे हिन्दू और मुसलमान दोनों पीड़ित हैं। राष्ट्र का उद्धार इन समस्याओं के हल करने से होगा...'

हिंदू-मुस्लिम एकता

साम्प्रदायिकता का जवाब एकता ही होगा। मगर कैसे? 1931 में वे लिखते हैं, 'दिलों में गुबार भरा हुआ है, फिर मेल कैसे हो। मैली चीज़ पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता... हम गलत इतिहास पढ़-पढ़कर एक दूसरे के प्रति तरह-तरह की गलतफ़हमियाँ दिल में भरे हुए हैं, और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानों उन्हीं पर हमारे जीवन का आधार हो।'

प्रेमचंद और साहित्यकार

आज साहित्यकार, कलाकार और बुद्धिजीवी को सामाजिक मसलों पर बोल-लिख रहे हैं तो उन्हें ढेरों आलोचनाएँ झेलनी पड़ रही हैं। और तो और उन्हें राष्ट्रद्रोही तक के दायरे में डाल दिया जा रहा है। यह देखना दिलचस्प है कि प्रेमचंद साहित्य या साहित्यकार को किस रूप में देखते थे। सबसे ऊपर की तीन लाइनों में भी हमने साहित्य के बारे में उनकी राय पढ़ी है।

'साहित्य का उद्देश्य' नाम के लेख में वे लिखते हैं— साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। यानी उन चीज़ों की आलोचना जो आम इंसान की जिंदगी पर असर डालते हैं।

इसी में वे कहते हैं, '...हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'

क्योंकि प्रेमचंद अपने समय के हर विषय से टकराते रहे, इसीलिए वे हमारे बीच आज भी जिंदा हैं।

साभार : बीबीसी

देश का चेहरा धर्मनिरपेक्ष

रहना चाहिए : कृष्णा सोबती

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित प्रख्यात कथा लेखिका कृष्णा सोबती की देश की सबसे ज्वलंत समस्या पर एक बेबाक टिप्पणी

भारत में विभाजनकारी ताकतों द्वारा आए दिन ताजा दम किया जाने वाला सांप्रदायिकता का चेहरा हर भारतीय नागरिक को चुनौती देता एक गंभीर खतरा है। यह खतरा वह नहीं है जो आपकी या यूं कहें हम सबकी हदों से बाहर है। यह वह है जो हम सब को कमोबेश अपने कंटीले जाल में समेटने की कोशिश में है। हमारा देश जिन आंतरिक खतरों और अलगाववादी चुनौतियों से गुजर रहा है, उसकी जिम्मेदारी सिर्फ सत्ता और सरकार पर डालकर

हम अपने फर्ज से बरी नहीं हो जाते। भारत का नागरिक होने की हैसियत से अगर मैं अपने होने में सिर्फ हिंदू हूं, मुसलमान हूं, सिख, पारसी या ईसाई हूं तो भी राष्ट्र द्वारा दी गई संज्ञा सभी समूहों-संप्रदायों को, जातियों-धर्मों को एक नाम प्रदान करती है-भारतीय नागरिक।

हम भारत के नागरिक राष्ट्र की विशाल चौखट से उभरे अपने होने में मात्र अपने कुल, वंश, जाति, क्षेत्र, धर्म, समुदाय के प्रतीक नहीं। हम अपने में समाए हैं राष्ट्र के भूगोल और



इतिहास को, उसकी सांस्कृतिक विरासत को, जो यहां रहने वाले हर नागरिक की थाती हैं। मैं, मेरा देश, मेरा राष्ट्र पासपोर्ट की एंट्री भर नहीं। वह इस स्वाधीन राष्ट्र में सांस लेने वाले हर नागरिक की अस्मिता का प्रतीक है। हमें यह भी याद कर लेना चाहिए कि यह राष्ट्रीयता सत्ता-व्यवस्था, सरकार और राष्ट्रीय ध्वज में ही नहीं, राष्ट्र के उस नागरिक में भी मूर्त होती है, जो राष्ट्र के इतिहास और भूगोल को जीता है और अपने नागरिक की संज्ञा को अपनी रूह, अपनी आत्मा में महसूस करता है।

यह धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र की प्रशस्ति नहीं, उसके मूल्यों का गुणगान है, जिसे हर नागरिक अपनी सामर्थ्य के अनुसार जीता है। आजादी के बाद देश की एकता के सम्मुख उठ खड़ी हुई विसंगतियों में एक यह भी है कि अपने होने में मैं हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी के साथ एक भारतीय भी हूँ। जबकि जो होना चाहिए था, वह यह कि मैं भारत का नागरिक हूँ, इसके साथ मैं अपने निजी धार्मिक विश्वासों में हिंदू, मुसलमान या कोई और हूँ। इसे कुछ इस ढंग से प्रस्तुत करना चाहूंगी :

मैं इकबाल चंद हूँ, इंदौर में रहता हूँ, भारतीय हूँ।
मैं इकबाल महमूद, हैदराबाद में रहता हूँ, भारतीय हूँ।
मैं जॉन इकबाल हूँ, पटना में रहता हूँ और भारतीय हूँ।
मैं इकबाल पालकीवाला, सूरत में रहता हूँ, भारतीय हूँ।
मैं इकबाल सिंह हूँ, पटियाला में रहता हूँ, भारतीय हूँ।

यह राष्ट्रीय एकता को उभारने वाला कोई विज्ञापन नहीं, एक हकीकत है। आपस में मनमुटाव, शक-सुब्हे और एक-दूसरे पर हथियार उठा लेने से हम उस सांझेपन को कैसे बांट लेंगे जो हमें विरासत में मिला है। राजनीतिक ताकतों के अलग-अलग नाम न लें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सांप्रदायिकता का चेहरा वह नहीं, जिसे हम आए दिन पेश करते हैं। यह वह है जिसे वे अपनी विचारधाराएं बेचने के लिए इस्तेमाल करती हैं। धर्म, जाति, संप्रदायों के तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद देश का नागरिक सामाजिक और सांस्कृतिक स्तरों पर अपने अलगाव को संतुलित करने का प्रयास करता रहा है। इसी साधारण जन के नाम पर सांप्रदायिकता की सारी उठापटक होती है और यही इन विघटनकारी शक्तियों का शिकार होता है। जिन नेगेटिव तत्वों को खास प्रयोजन-आयोजन से उभारा-उछाला

जाता है, वे भी उसी आम आदमी को घायल करते हैं। लोकतांत्रिक शक्तियों को इकट्ठा होकर इस षड्यंत्र को उघाडना होगा।

यहां हम अपने प्रबुद्ध वर्ग की चौकसी की सराहना नहीं, बल्कि उस पर संदेह करेंगे। यह वर्ग राजनीति के दायरों में अपने-अपने जुगाड़ के मद्देनजर परिस्थितियों और घटनाओं को सही-सही परखने की बजाए उन्हें एक-दूसरे से गड़बड़ा देने की क्षमता रखता है। इस तबके को खास तौर पर अपना आत्मावलोकन करना चाहिए। प्रेस का चरित्र भी किसी से अनदेखा नहीं। इन हालात में सामाजिक परिवर्तनों की पहचान हमें आश्चर्य करती है। जिस तेजी से इनकी जटिल प्रक्रियाओं से देश निकल रहा है, वह बताता है कि साधारण नागरिक का सामाजिक और राजनीतिक अनुभव पहले से कहीं ज्यादा व्यापक हुआ है।

जो ताकतें सांप्रदायिकता को बढ़ावा देती हैं, इसके लिए पैसा खर्च करती हैं, उनका मुकाबला यह नया हिंदुस्तानी कर पाएगा, ऐसी उम्मीद हम करते हैं। आर्थिक चुनौतियों का जवाब क्या हम कर्मकांड से, घंटे-घड़ियाल, अजान-अरदास से पा सकेंगे? नहीं, इसके लिए हमें अपने पुरानेपन से निकलना होगा। नए को अपनाने की ललक सभी समुदायों में होती है। लोकतंत्र में जहां हम अपने धार्मिक विश्वासों को जीने के लिए स्वतंत्र हैं, वहीं राष्ट्र की मुख्यधारा से अपना हिस्सा उठाने के लिए भी। संकीर्ण प्रचार-प्रसार से हम शोषित और शोषण के हालात को नहीं बदल पाएंगे, न ही लड़ पाएंगे, उन ताकतों से जो हर संप्रदाय को उसका चेहरा घायल करके दिखाती हैं।

भारतीय मानस अपने विशिष्ट लचीलेपन से साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में बहुत कुछ दे चुका है। हम निराश नहीं हैं, यह जानते हुए कि आज भी हमारे सृजनात्मक साहित्य में भारत की मूलभूत व्यापकता की कमी नहीं। जहां गिरिराज किशोर लिख रहे हैं। वहां अब्दुल बिस्मिल्लाह और मंजूर एहतेशाम भी। एक ओर राजेंद्र यादव थे तो दूसरी ओर शानी भी। यह प्राप्ति बहुत बड़ी न सही, एक बड़े रास्ते की ओर इशारा तो है ही। आखिर में इतना ही कि अपनी सामर्थ्य और आस्था के बल पर हम सांप्रदायिकता को जीतने नहीं देंगे। भारत का चेहरा सदियों से धर्मनिरपेक्ष रहा है। उसे धर्मनिरपेक्ष ही रहना चाहिए।

दुर्गाबाई देशमुख : अपने बाल-विवाह को तोड़कर जो आजादी के आंदोलन की दिग्गज नेता बनीं

महात्मा गांधी से लेकर जवाहरलाल नेहरू और भीमराव अंबेडकर तक उस दौर का हर बड़ा नेता दुर्गाबाई देशमुख से प्रभावित था

■ अव्यक्त

असहयोग आंदोलन पूरे देश में जोर-शोर से चल रहा था। महात्मा गांधी पूरे भारत में घूम-घूमकर लोगों को संबोधित कर रहे थे। दो अप्रैल, 1921 को महात्मा गांधी आंध्रप्रदेश के काकीनाड़ा में एक सभा करने वाले थे। मुख्य कार्यक्रम वहां के टाउन हॉल में आयोजित होने वाला था। जब इस बारे में वहां के एक बालिका विद्यालय की 12 साल की एक छात्रा को यह पता चला तो उसने तय कि वह वहां देवदासी कुप्रथा की शिकार महिलाओं को गांधीजी से मिलवाएगी। उसने यह भी ठाना कि बुर्का कुप्रथा की शिकार मुस्लिम महिलाओं को भी गांधीजी से मिलवाएगी। वह चाहती थी गांधीजी इन महिलाओं को कुछ ऐसा संदेश दें जिससे ये इन कुप्रथाओं से उबर सकें।

अब समस्या यह थी कि गांधीजी के पास बहुत ही कम समय होता था और स्थानीय आयोजक अपने कार्यक्रम को लेकर ही व्यस्त थे, सो उन्होंने टालने के लिए उस लड़की से कह दिया कि यदि उसने गांधीजी को चंदे में देने के लिए पांच हजार रुपये (उस समय एक बहुत बड़ी राशि) इकट्ठे कर लिए तो गांधीजी का दस मिनट का समय उन महिलाओं के लिए मिल जाएगा। आयोजकों ने हंसी-हंसी में सोचा होगा कि यह बच्ची क्या पांच हजार रुपये इकट्ठा कर पाएगी। इसके बाद वह लड़की अपनी

देवदासी सहेलियों से जाकर मिली और इस शर्त के बारे में बताया। देवदासियों ने कहा कि रूप्यों का इंतजाम तो हो जाएगा लेकिन वह रोज आकर उनसे मिले और उन्हें गांधीजी के देश के प्रति योगदान के बारे में बताए। एक सप्ताह के भीतर ही रूप्यों का इंतजाम हो गया।

अब समस्या थी कि गांधीजी का यह कार्यक्रम किस जगह पर रखा जाए। देवदासियां और बुर्कानशीं महिलाएं आम सभा में जाने से हिचक रही थीं। स्थानीय आयोजकों ने कोई मदद नहीं की। इसलिए लड़की ने उन्हें रुपये देने से इनकार कर दिया और खुद ही कार्यक्रम के लिए उपयुक्त जगह की तलाश में जुट गई। वह अपने स्कूल के हेडमास्टर शिवैया शास्त्री के पास गई और अनुरोध किया कि स्कूल के ही विशाल मैदान में कार्यक्रम आयोजित करने की अनुमति दी जाए। अनुमति भी मिल गई। स्थानीय आयोजकों ने कहा कि गांधीजी का केवल पांच मिनट ही इस कार्यक्रम के लिए मिल जाएगा। लड़की ने कहा कि दो मिनट भी काफी है।

स्कूल का मैदान रेलवे स्टेशन और टाउन हॉल के बीच में ही पड़ता था इसलिए गांधीजी पहले महिलाओं की इस विशेष सभा में ही पहुंचे। एक हजार से अधिक महिलाएं जुटी थीं। जैसे ही गांधीजी ने बोलना शुरू किया। पांच मिनट बीते,

दस मिनट बीते, आधा घंटा बीत गया लेकिन गांधी लगातार बोलते जा रहे थे। महिलाएं अपने जेवर-आभूषण, सोने के कंगन, गले के कीमती हार उनके कदमों में रखती जा रही थीं। इस तरह कुल पच्चीस हजार रुपयों की थैली इकट्ठा हो चुकी थी। गांधीजी ने महिलाओं की मुक्ति पर जोर देते हुए कहा कि देवदासी और बुर्का जैसी कुप्रथाओं को जाना ही होगा। गांधीजी का यह पूरा भाषण हिंदुस्तानी में था और इसका तेलुगु में अनुवाद वह 12 वर्षीया लड़की ही कर रही थी!

इसके बाद जब वह लड़की सबके साथ गांधीजी को स्कूल के दरवाजे तक छोड़ने गई, तो गांधीजी ने उससे कहा— 'दुर्गा, आओ मेरे साथ मेरी कार में बैठो।' दुर्गा कार की पिछली सीट पर कस्तूरबा के साथ जा बैठी। बगल में प्रभावती (जयप्रकाश नारायण की पत्नी) भी बैठी थीं। जब गांधी टाउन हॉल पहुंचे और वहां सभा को संबोधित करना शुरू किया तो वहां के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी कोंडा वेंकटाप्पैय्या ने गांधीजी के हिंदुस्तानी में दिए जा रहे भाषण को तेलुगु में अनुवाद करना शुरू किया। गांधीजी ने बीच में ही उन्हें रोककर कहा— 'वेंकटाप्पैय्या, अनुवाद दुर्गा को करने दो। आज सुबह उसने मेरे भाषण का क्या खूब अनुवाद किया है।' इसके बाद से गांधीजी ने जब भी आंध्र का दौरा किया तो दुर्गा ने ही उनके अनुवादक का काम किया। यहां तक कि मद्रास की सभाओं में भी अपने भाषण को तमिल में अनुवाद के लिए गांधी दुर्गा को ही बुलाते थे, जबकि दुर्गा को थोड़ी-बहुत ही तमिल आती थी।

इसके बाद एक दूसरी दिलचस्प घटना हुई। 1923 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन काकीनाड़ा में ही होने वाला था। गांधीजी तब तक दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना कर चुके थे और इसका मुख्यालय मद्रास में रखा था। इसी के तत्वावधान में पहला हिंदी साहित्य सम्मेलन कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ काकीनाड़ा में ही होने वाला था। 14 साल की दुर्गा कम उम्र की वजह से कांग्रेस के अधिवेशन में वॉलेंटियर नहीं बन सकी, लेकिन हिंदी साहित्य सम्मेलन की एक प्रदर्शनी में उसे वॉलेंटियर बनाया गया।

उस प्रदर्शनी को देखने जवाहरलाल नेहरू भी पहुंचे। गेट पर खड़ी दुर्गा ने उनसे टिकट दिखाने को कहा। अब न तो नेहरू जी के पास टिकट था और न टिकट खरीदने के लिए पैसे (दो आने) ही थे। दुर्गा ने विनम्रतापूर्वक उन्हें भीतर

बिना टिकट प्रवेश करने से मना कर दिया। आयोजकों को जब पता चला तो वे दौड़े आए और दुर्गा का कान उमेठते हुए पूछा कि तुम्हें मालूम नहीं है कि ये जवाहरलाल नेहरू हैं। दुर्गा ने कहा कि मुझे मालूम है कि ये नेहरू हैं लेकिन मुझे तो आदेश था कि मैं किसी को भी बिना टिकट प्रवेश न करने दूं। तब नेहरू के लिए एक टिकट खरीदा गया और दुर्गा ने उन्हें प्रवेश करने दिया। नेहरू के मन पर भी उस लड़की की अमिट छाप पड़ गई और उन्होंने आयोजकों से कहा कि देश को ऐसी ही लड़कियों की जरूरत है जो साहस और प्रतिबद्धता के साथ अपना कर्तव्य पूरा करे।

यह लड़की दुर्गा ही आगे चलकर दुर्गाबाई देशमुख बनीं। 15 जुलाई, 1909 को जन्मी दुर्गा का शुरुआती नाम 'रेवती' था। आंध्र के ईस्ट गोदावरी जिले का राजमुंदरी जहां दुर्गाबाई का जन्म हुआ, वही तेलुगु भाषा की जन्मस्थली भी माना जाता है। तेलुगु के आदिकवि कहे जाने वाले नात्रैय्या जिन्होंने तेलुगु की लिपी और उसका व्याकरण रचा वह राजमुंदरी के ही थे। 'राजशेखरा चरित्र' नाम से तेलुगु का पहला उपन्यास लिखने वाले काणुकुरी वीरासालिंगम भी राजमुंदरी के ही थे।

दुर्गा के पिता बीवीएन रामाराव यूं तो एक जागरूक समाजसेवी थे, लेकिन दुर्गा के शब्दों में जो एकमात्र गलती उन्होंने अपने जीवन में की वह ये थी कि उन्होंने केवल आठ साल की उम्र में दुर्गा का बाल-विवाह एक जमींदार के दत्तक पुत्र सुब्बा राव से कर दिया। बाद में, दुर्गा ने जब पंद्रह साल की उमर में इस विवाह को मानने से इनकार कर दिया तो पिता रामाराव को भी इस गलती का एहसास हुआ। 1929 में जब केवल 36 साल की उम्र में रामाराव का देहांत हुआ तो मृत्यु से पहले उन्होंने दुर्गा की मां कृष्णवेणम्मा को बुलाकर कहा कि दुर्गा आगे चलकर जिस किसी दूसरे पुरुष से विवाह करना चाहे उसे करने देना।

वहीं इससे पहले दुर्गा अपने बाल-विवाह वाले पति सुब्बा राव को बुलाकर कह चुकी थीं कि तुम अपने पसंद की किसी अन्य लड़की से विवाह कर लो। इस पर सुब्बा राव ने दुर्गा से लिखित में एक सहमित-पत्र मांगा जो दुर्गा ने दे दिया। सुब्बा राव ने मायम्मा नाम की एक लड़की से विवाह किया था। उल्लेखनीय है कि 1941 में जब सुब्बा राव का देहांत हो गया और मायम्मा के साथ उसके ससुराल वाले अत्याचार करने लगे तो दुर्गाबाई ने उन्हें अपने पास बुला

लिया और अपने द्वारा स्थापित 'आंध्र महिला सभा' में प्रशिक्षण दिलाकर स्वावलंबी बनाया और बाद में वे हैदराबाद के रीजनल हैंडीक्राफ्ट्स इंस्टीट्यूट में शिक्षिका बन गईं।

दुर्गाबाई देशमुख का जीवन दिखाता है कि कैसे एक अकेली कस्बाई लड़की ने आजादी की लड़ाई के दौरान और आजाद भारत में भी अपनी लगन, अपने साहस और आत्मविश्वास से अपने लिए एक अहम स्थान बनाया। दुर्गाबाई केवल 14 साल की थीं जब उन्होंने अपने छोटे से घर के एक हिस्से में ही 'बालिका हिंदी पाठशाला' चलाना शुरू कर दिया था। काकीनाड़ा कांग्रेस अधिवेशन से पहले वे 400 से अधिक महिला स्वयंसेवकों को हिंदी सिखा चुकी थीं। बाद में किसी सज्जन ने उन्हें एक बड़ा स्थान इसके लिए मुहैया कराया। इस पाठशाला में चरखा चलाना और कपड़ा बुनना भी सिखाया जाने लगा। अपनी खासियतों की वजह से उस समय यह पाठशाला अचानक ही राष्ट्रीय स्तर पर जाना-पहचाना जाने लगा। चित्तरंजन दास, कस्तूरबा गांधी, मौलाना शौकत अली, जमनालाल बजाज और सीएफ एन्ड्रयूज तक इसे देखने जा चुके थे। जब जमनालाल बजाज ने पूछा कि इस पाठशाला की प्रधानाध्यापक कौन है, और बुलुसु सांबामूर्ति जैसे स्वतंत्रता सेनानी ने 14 साल की दुर्गाबाई के बारे में बताया तो उन्हें एकबारगी यकीन ही नहीं हुआ। उन्होंने दो अवसरों पर दुर्गाबाई को आर्थिक सहयोग देने की पेशकश भी की, लेकिन दुर्गाबाई ने विनम्रतापूर्वक मना करते हुए कहा कि जब ऐसी जरूरत पड़ेगी, तब वह मांग लेगी।

धीरे-धीरे दुर्गाबाई पूरी तरह से आजादी की लड़ाई में कूद गईं और इस दौरान मद्रास में नमक सत्याग्रह का आंदोलन शुरू किया। इस बीच उन्हें तीन बार जेल भी जाना पड़ा। एक बार तो उन्हें मदुरै जेल में एक साल का एकांत कारावास भी झेलना पड़ा था। इसके चलते वे अस्वस्थ हो गईं और कुछ दिन गांधीजी के आश्रम में गांधीजी और कस्तूरबा के साथ भी रहीं। इसके बाद उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अपने सपने को फिर से पूरा करने की ठानी। बहुत तैयारियों के बाद मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित बनारस हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू) से उन्होंने विशिष्टता के साथ मैट्रिक की परीक्षा पास की। इस दौरान उन्होंने मालवीय जी का भी ध्यान खींचा। मालवीय जी की मदद से उन्होंने बीएचयू से ही इंटरमीडिएट भी विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण की। इसका पुरस्कार देने के लिए स्वयं महात्मा गांधी को वहां आमंत्रित

किया गया था। दुर्गाबाई को अपने हाथों से यह पुरस्कार देते हुए महात्मा गांधी ने कहा था, 'तुमने जीवन के इस क्षेत्र में भी कमाल किया है दुर्गा!'

लेकिन इसके बाद दुर्गाबाई को महिला होने के चलते एक अजीब तरह की चुनौती का सामना करना पड़ा। राजनीति के जरिए सेवा में रुचि होने की वजह से दुर्गाबाई राजनीति विज्ञान में ही बी.ए. करना चाहती थीं। लेकिन मदन मोहन मालवीय इस विषय को केवल पुरुषों के लिए ही उपयुक्त समझते थे। उन्होंने दुर्गाबाई को बीएचयू में राजनीति विज्ञान से बी.ए. करने की अनुमति नहीं दी। लेकिन दुर्गाबाई ने हार नहीं मानी। उन्होंने आंध्र विश्वविद्यालय में दाखिला लेने की सोची। वहां के कुलपति डॉ. सीआर रेड्डी एक लंबी बहस के बाद दाखिले पर तो सहमत हो गए, लेकिन नया बहाना पेश कर दिया कि हमारे यहां तो महिलाओं के लिए हॉस्टल ही नहीं है।

दुर्गाबाई ने अब भी हार नहीं मानी। उन्होंने अखबार में इशतहार दिया कि जो भी लड़कियां हॉस्टल के अभाव में आंध्र विश्वविद्यालय में दाखिला नहीं ले पा रही हैं वे उनसे संपर्क करें। लगभग दस लड़कियों ने उनसे संपर्क किया। इन दसों लड़कियों ने मिलकर एक उपयुक्त जगह की तलाश की और खुद ही एक गर्ल्स होस्टल की शुरुआत कर दी। फिर इन सबने कुलपति से मिलकर कहा कि उन्हें उनकी पसंद के कोर्सों में दाखिला दिया जाए। इस तरह दुर्गाबाई ने 1939 में उस समय एम.ए. के समकक्ष माना जाने वाला स्पेशल बी.ए. ऑनर्स कोर्स प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए पास किया। इस उपलब्धि के लिए उन्हें लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में पढ़ने के लिए टाटा स्कॉलरशिप मिल गई और इनर टेम्पल जैसे संस्थान में कानून पढ़ने के लिए भी एक सीट मिल गई। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हो जाने की वजह से वे ब्रिटेन न जा सकीं। उन्होंने मद्रास के लॉ कॉलेज से कानून की डिग्री हासिल की।

लॉ कॉलेज में पढ़ते हुए दुर्गाबाई ने मद्रास में ही 'आंध्र महिला सभा' की नींव रखी। महिलाओं की शिक्षा, रोजगारपरक प्रशिक्षण और महिला सशक्तिकरण के क्षेत्र में इस संस्था ने अपनी खास पहचान बनाई और देशभर के कई महत्वपूर्ण व्यक्ति इसके प्रयासों से जुड़े जिनमें सरोजिनी नायडू, सुचेता कृपलानी, जयपुर के महाराजा विक्रमदेव वर्मा, मिर्जापुर की महारानी और डॉ. बीसी रॉय प्रमुख रहे। 1946 में मद्रास में 'आंध्र महिला सभा' के नए भवन की नींव रखने स्वयं

महात्मा गांधी गए थे। उसी साल दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में योगदान के लिए महात्मा गांधी के हाथों ही उन्हें स्वर्ण पदक से सम्मानित किया।

आज़ादी के बाद संविधान सभा की गिनी-चुनी महिला सदस्यों में वे प्रमुख थीं और इसके सभापति के पैनल में वे अकेली महिला थीं। संविधान सभा और बाद में अंतरिम सरकार में होने वाली बहसों में वे बड़-चढ़कर हिस्सा लेती थीं। खासकर वंचितों और महिलाओं के अधिकारों और बजटीय प्रावधानों के लिए वे मंत्रियों को परेशान करके रखती थीं। एक बार तो उन्होंने वित्तमंत्री डॉ. जॉन मथाई और उनके परवर्ती सीडी देशमुख को गरीबों के सवाल पर संसद में इस तरह घेरा कि डॉ. अंबेडकर ने बहुत खुश होते हुए कहा— ‘दिस वूमन हैज़ ए बी इन हर बोनट’ (किसी विषय या मुद्दे को आसानी से न छोड़ना)।

सरदार पटेल का तो बहुत ही अधिक स्नेह दुर्गाबाई को मिला। एक बार संसद में दुर्गाबाई ने हिंदी में इतना जोरदार भाषण दिया कि सरदार पटेल वाह-वाह कर उठे। उसके बाद से उन्होंने हर सप्ताह में एक दिन दुर्गाबाई को खाने पर बुलाना शुरू कर दिया। अपनी बेटी मणिबेन के साथ सरदार एक बार मद्रास में ‘आंध्र महिला सभा’ को देखने भी गए।

अब आखिर में दुर्गाबाई के जीवन का वह अध्याय जिसके बिना यह आलेख अधूरा रह जाएगा। वह है दुर्गाबाई राव से उनके दुर्गाबाई देशमुख बनने की कहानी। चिंतामण द्वारकानाथ देशमुख (सीडी देशमुख) अपने दौर के सबसे मेधावी युवकों में थे और विश्वविद्यालयों से लेकर आईसीएस तक की परीक्षा में वे टॉपर रहे थे। गोलमेज सम्मेलनों से लेकर अन्य कई महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों का उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वहन किया था। आज़ादी के बाद उन्होंने लगातार कई महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों को संभाला। वे रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया के पहले भारतीय गवर्नर बने। बाद में वे भारत के द्वितीय वित्त मंत्री भी बने। योजना आयोग की स्थापना के समय से ही वे इसके सदस्य बने। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष और नेशनल बुक ट्रस्ट के संस्थापक सभापति भी रहे। तिलक से लेकर महात्मा गांधी और बाद में नेहरू के साथ उनके आत्मीय संबंध रहे। उनका पहला विवाह लंदन में ही रोज़ीना नाम की एक ब्रिटिश युवती से हुआ था। 1949 में रोज़ीना का देहांत हो

गया।

दुर्गाबाई संसद में वित्त मंत्र देशमुख को कई बार गरीबों के प्रश्न पर घेर चुकी थीं। इसके बाद योजना आयोग के प्रथम पांच सदस्यों के रूप में देशमुख और दुर्गाबाई एक साथ थे। इस तरह दोनों की ठीक से जान-पहचान हुई। दोनों की जीवन शैली एकदम भिन्न थी। देशमुख जहां अपनी अंग्रेजीदां जीवन-शैली और पहनावे के लिए जाने जाते थे, वहीं दुर्गाबाई एकदम सादा पहनावे और भदेस जीवन शैली के लिए जानी जाती थीं। दुर्गाबाई ने लिखा है कि उन्हें तो फैशनेबल चप्पलें तक पहननी नहीं आती थीं।

इस बीच एक दिन देशमुख दुर्गाबाई को अपने बगीचे में एक यूकेलिप्टस के पेड़ के पास ले गए और उसके तने पर संस्कृत में दो श्लोक लिखे, जिसका निहितार्थ वास्तव में विवाह का प्रस्ताव था। दुर्गाबाई ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 22 जनवरी, 1953 को दोनों का विवाह हुआ जिसमें प्रथम गवाह की भूमिका स्वयं प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने निभाई। विवाह से ठीक पहले दुर्गाबाई योजना आयोग से अपना इस्तीफा लेकर नेहरू के पास गई थीं कि पति-पत्नी का एक साथ योजना आयोग में रहना ठीक नहीं होगा। इस पर नेहरू ने इस्तीफा नामंजूर करते हुए कहा था कि योजना आयोग में तुम्हारी नियुक्ति देशमुख ने नहीं, मैंने की है।

भारत में लड़कियों और महिलाओं की शिक्षा के लिए 1958 में बनाए गए परिषद् ‘नेशनल कार्डसिल फॉर वीमेंस एजुकेशन’ की पहली अध्यक्ष दुर्गाबाई देशमुख को ही बनाया गया। भारतीय न्यायपालिका में ‘फेमिली कोर्ट’ की व्यवस्था लाने का श्रेय भी उन्हीं को दिया जाता है। सामाजिक शोध के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने वाली नई दिल्ली स्थित संस्था ‘कार्डसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट’ की स्थापना भी उन्होंने ही की थी। हिंदी के प्रति यदि किसी भी दक्षिण भारतीय नेता में सबसे अधिक अनुराग था तो वह निस्संदेह दुर्गाबाई को ही था। तभी तो उन्होंने संविधान सभा में हिंदुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रस्ताव दिया था।

अगली बार जब आप अपने बच्चों को लेकर दिल्ली मेट्रो की पिंक लाइन से गुजरें और दिल्ली विश्वविद्यालय के साउथ कैंपस वाले दुर्गाबाई देशमुख मेट्रो स्टेशन पर उतरें, तो अपने बच्चों को ज़रूर बताएं कि दुर्गाबाई देशमुख कितनी महान शख्सियत थीं।

कब तक भूख और गोली से मारे जाएंगे आदिवासी?

■ अनुराग मोदी

सोनभद्र में किसी ने उन आदिवासियों की भुखमरी के हालात की तह में जाने की कोशिश तक नहीं की, यह सवाल नहीं पूछा कि मौत का खतरा होते हुए भी वे इस अनउपजाऊ क्षेत्र में ज़मीन से क्यों चिपके हुए थे ?

उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले के घोरावल तहसील के उम्भा गांव में गोंड आदिवासियों के कब्जे की जमीन पर जबरन कब्जा करने के लिए गांव प्रधान 20 ट्रैक्टरों में 200 हथियारबंद लोगों को लेकर आया और अंधाधुंध फायरिंग कर 3 महिलाओं सहित 11 आदिवासियों को मौत के घाट उतार दिया और दो दर्जन से ज्यादा लोगों को घायल कर दिया।

जिस तरह से इस घटना को अंजाम दिया गया, उससे ऐसा लग रहा है, जैसे किसी ने आज की पीढ़ी के लिए इतिहास के पन्नों से राजशाही समय से चली आ रही सामंती व्यवस्था का बिहार के बेलछी गांव की घटना की तरह एक बार फिर सजीव चित्रण पेश किया हो, लेकिन इतनी वीभत्स घटना भी हमारे देश के जनमानस को झंझोड़ने में नाकामयाब रही।

और तो और, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति का 22 जुलाई को प्रस्तावित दौरा रद्द हो गया। यह क्यों हुआ ? किसके दबाव में हुआ ? यह स्पष्ट नहीं है। सिर्फ इस बारे में 21 जुलाई को केन्द्रीय प्रेस सूचना विभाग ने एक छोटी सी सूचना जारी की। अगर इतनी बड़ी घटना के बाद आदिवासियों के हित के नाम पर बना आयोग वहां नहीं जाता है या जा पाता है, तो इससे समझ आता है उसका अस्तित्व क्या है और वो दिखावे के लिए भी कुछ नहीं करना चाहता है।

खैर, सोनभद्र की इस घटना के पीड़ितों को लेकर कांग्रेस महासचिव प्रियंका गांधी ने आवाज उठाई, यह विपक्ष की नेता होने के नाते उनका कर्तव्य था, जो वहां कि अन्य प्रमुख विपक्षी पार्टियों ने नहीं पूरा किया। उनके दौरे ने इस मुद्दे के प्रति मीडिया में कुछ रुचि पैदा कर दी,

लेकिन मीडिया की रुचि इस इलाके के आदिवासियों के भविष्य में कम और प्रियंका गांधी के भविष्य में ज्यादा थी।

किसी भी न्यूज़ चैनल ने यहां के आदिवासियों की भुखमरी के हालात की तह में जाने की कोशिश तक नहीं की। यह सवाल नहीं पूछा कि मौत का खतरा होते हुए भी आदिवासी इस अनउपजाऊ क्षेत्र में जमीन से क्यों चिपके हुए थे ?

मीडिया की रुचि तो बस इस बात में थी कि 1977 की जबरदस्त हार के बाद कैसे इंदिरा गांधी ने बिहार के बेलछी में हुए दलितों के नरसंहार के मुद्दे को उठाकर राजनीति में वापसी की थी। वो यह कयास लगाने में लगे थे कि क्या उसी तरह उनकी पोती गांधी परिवार और कांग्रेस को राजनीति में वापस ला पाएगी ?

मीडिया कोशिश करती तो उसे मालूम होता कि जिस तरह से देश के सारे खनिज बाहुल्य आदिवासी इलाके में होता है, वैसा यहां भी हुआ। यहां की सारी समृद्धि पूंजीपति और सरकार ने अपने कब्जे में ले ली और आदिवासियों के लिए छोड़ दी गरीबी और भुखमरी। यह इलाका झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश और बिहार से सटा होने के कारण खनिज समृद्ध इलाके का हिस्सा है।

आजादी के बाद भी यह तब तक मुख्यधारा से कटा रहा जब तक यहां सीमेंट, एल्युमीनियम और बिजली बनाने के लिए प्लांट नहीं खड़े किए गए। खनिज संसाधन यहां के आदिवासियों के लिए अभिशाप बन गया। उन्हें उनके जंगल और जमीन से दूर कर पर्यावरण का विनाश तो किया ही गया, साथ ही वो भूमिहीन बन गए और जो जंगल से भोजन और कुछ संसाधन मिलता था, वो भी छिन गया।

उत्तर प्रदेश का सोनभद्र और उससे सटा मध्य प्रदेश का सिंगरौली जिला मिलाकर देश की

10प्रतिशत बिजली आती है, इसे देश की विद्युत राजधानी भी कहा जाता है। उत्तर प्रदेश तो इस जिले के बिना अंधेरे में डूब जाएगा, उसकी 18,000 मेगावाट बिजली की मांग में से अधिकांश की आपूर्ति इस जिले से होती है। यह अलग बात है कि यहां के लोग अंधेरे में रहते हैं। एशिया का सबसे बड़ा सीमेंट प्लांट भी इस जिले में है।

आजादी के 72 साल पूरे होने को आए, लेकिन दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था के दावे करने वाले भारत देश के खनिज समृद्ध इलाके का आदिवासी के पास अपनी भूख से लड़ने के लिए दो ही विकल्प बचे हैं—या तो वो भ्रष्टाचार से भरी सरकारी व्यवस्था से भोजन मिलने के इंतजार करता-करता भूख से मर जाए।

या वो जंगल में जमीन जोतने के लिए सरकारी जमींदार (वन विभाग, जिसके पास देश 25 प्रतिशत भू-भाग है, जो कभी आदिवासियों का था) और उसकी हथियारों की ताकत से निपटे, और नहीं तो राजस्व इलाके में निजी जमींदार से निपटता मारा जाए।

सोनभद्र जिले के उम्भा गांव की ताजा घटना ने इस कड़वी सच्चाई को एक बार फिर रेखांकित कर दिया है।

इस इलाके में जंगल जमीन पर हक को लेकर 'ऑल इंडिया यूनियन ऑफ फॉरेस्ट वर्किंग पीपल के बैनर तले लंबे समय से गोंड एवं अन्य समुदाय के लोग संघर्षरत है।

इसे लेकर वो अक्सर वन विभाग के अत्याचारों का शिकार होते रहते हैं। वो लगातार उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ से वन अधिकार कानून, 2006 के तहत आदिवासियों को अधिकार देने की मांग करते आ रहे हैं, लेकिन, इसे लेकर सरकार के कान पर अब तक जूं नहीं रेंगी।

योगी सरकार तो अपनी नाकामी का ठीकरा नेहरू-गांधी परिवार और कांग्रेस पर फोड़ने की मोदी-शाह की 'चाणक्य नीति' को आगे बढ़ाते हुए ने सोनभद्र की घटना के मामले में 1955 की कांग्रेस सरकार को जिम्मेदार ठहराया है।

वो अगर थोड़ा और शोध करते तो उन्हें मालूम पड़ता कि इस सब झगड़े के बीज तो अंग्रेजों बो कर गए थे, उनकी नीतियों के चलते ही आदिवासियों का राजस्व और वन भूमि से हक छीन लिया गया था, लेकिन यहां बड़ा सवाल यह है कि क्या यह व्यवस्था बदलेगी? या आदिवासियों को उनके हिस्से के हक देने के मामले में व्यवस्था 1947 के आसपास ही अटकी रहेगी?

आज आदिवासी के लिए बच्चे के पैदा होने से पहले गर्भवती मां को पोषक अहार देने से लेकर बूढ़े होने पर अन्त्योदय योजना के तहत भोजन देने की योजना कागजों पर है, लेकिन जमीनी हकीकत यह है कि आज भी 50 प्रतिशत के लगभग आदिवासी महिलाएं शारीरिक ऊर्जा की भारी कमी एवं 70 प्रतिशत खून की कमी की बीमारी से पीड़ित हैं।

देश की आर्थिक राजधानी मुंबई से सटे पालघर जिले में 2013

से 2016 के बीच कुपोषण से हर साल 500 के लगभग आदिवासी बच्चों की मौत हुई।

वहीं इस देश के लोकतंत्र की विडंबना देखिए कि भोजन के साधन वितरण की इस व्यवस्था को सरल करने की बजाय भ्रष्टाचार रोकने के नाम पर और जटिल बना दिया गया जिससे इन आदिवासियों को पेट भरने के लिए अनाज मिलना और दूभर हो गया।

इसके उलट, केंद्रीय सूचना आयोग से लेकर सुप्रीम कोर्ट भी 12 बड़े पूंजीपति, जिनके ऊपर बैंक के कुल बकाया की 25 प्रतिशत राशि (ढाई लाख करोड़ रुपए के लगभग) बाकी है, के नाम तक सार्वजनिक नहीं करवा पाया। इतना ही नहीं, पहले दस हजार करोड़ और अब 30 हजार करोड़ के बैंक घोटाले के आरोपी तो विदेश जा बैठे। वहीं गरीब आदिवासी अपना पेट जैसे-तैसे भर सके, ऐसी योजनाओं में चंद सैंकड़ रुपए मूल्य की कल्याणकारी योजना का लाभ देने के लिए आधार की अनिवार्यता की सरकार की शर्त को सुप्रीम कोर्ट ने अपनी मंजूरी दे दी।

इससे सरकार को अब इस बात का हक मिल गया कि वो कुपोषित और भूखे आदिवासी को चंद किलो अनाज तब तक न दे, जब तक उसकी उंगलियों के निशान न मिल जाए। इसका परिणाम यह है कि अकेले झारखंड में राशन न मिलने से कई आदिवासी भूख से मर गए।

सोनभद्र की घटना हमसे चीख-चीखकर कह रही है कि आदिवासियों को सरकार की भ्रष्ट व्यवस्था से राशन की भीख नहीं, इस आसमान के नीचे अपने हक की जमीन चाहिए। आजादी के समय कांग्रेस द्वारा 'जो जोते उसकी जमीन' का वादा किया गया था, वह आजादी के बाद 1954 में जमींदारी व्यवस्था खत्म करने के लिए कानून भी लाई। वहीं, जंगल-जमीन से सरकारी जमींदारी खत्म करने की बात करने में उसे 59 साल लग गए।

आदिवासियों को जमीन और जंगल पर हक मामले में ऐतिहासिक अन्याय हुआ था, जिसे उन्हें वापस देने के लिए कांग्रेस के नेतृत्व वाली यूपीए सरकार 2006 में वन अधिकार कानून लाई।

राजस्व इलाके से जमींदारी कुछ हद तक तो खत्म हुई है, लेकिन अब भी बड़ा काम बाकी है। मगर जंगल जमीन पर वन विभाग की जमींदारी खत्म करने के मामले में तो 2006 से अब तक नाममात्र ही काम हुआ है।

मोदी और योगी सरकार हर मामले में कांग्रेस पर ठीकरा फोड़ना बंद कर इतने बड़े बहुमत का उपयोग आदिवासियों को बिना गोली और जेल के भय के इज्जत से जीने का हक दे। मीडिया को भी चाहिए कि वो प्रियंका गांधी के भविष्य की चिंता छोड़े और आदिवासियों के भविष्य पर अपना फोकस रखे।

(लेखक श्रमिक आदिवासी संगठन समाजवादी जन परिषद के कार्यकर्ता हैं।)

कैसे मॉब लिंगिंग का दुनियाभर का इतिहास भारत के भविष्य की एक भयावह तस्वीर दिखाता है

भीड़ हत्या या मॉब लिंगिंग का चलन दुनिया के कई समाजों में रहा है और इसका सबसे क्रूरतम इतिहास अमेरिका से जुड़ा है

'दी क्विंट' की एक रिपोर्ट के मुताबिक 2015 से अब तक भारत में भीड़ द्वारा हत्या (मॉब लिंगिंग) के 94 मामले सामने आ चुके हैं। और यदि उसमें मुरादाबाद के आलियाबाद गांव के गंगाराम की हत्या को जोड़ दें तो यह संख्या 95 हो जाती है। इन पीड़ितों में प्रायः सभी धर्मों, जातियों और क्षेत्रों के लोग शामिल हैं। इंडियास्पेंड की एक रिपोर्ट के मुताबिक वर्ष 2012 से 2019 में अब तक सामुदायिक घृणा से प्रेरित ऐसी 128 घटनाएं हो चुकी हैं जिनमें 47 लोगों की मृत्यु हुई है और 175 लोग गंभीर रूप से घायल हुए हैं।

इंडियास्पेंड की ही एक अन्य रिपोर्ट के मुताबिक एक जनवरी,

2017 से पांच जुलाई, 2018 के बीच दर्ज 69 मामलों में केवल बच्चा-चोरी की अफवाह के चलते 33 लोग भीड़ द्वारा मारे जा चुके हैं और 99 लोग पीट-पीटकर गंभीर रूप से घायल किए जा चुके हैं। जाहिर है इनमें से कुछ हत्याएं ही राजनीतिक सुभीते के आधार पर राष्ट्रीय चर्चा का विषय बन पाती हैं।

भारत के राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो की एक रिपोर्ट के मुताबिक साल 2001 से 2014 तक देश में 2,290 महिलाओं की हत्या डायन होने की आशंका



में पीट-पीटकर की गई। इनमें 464 हत्याएं अकेले झारखंड में हुईं। ओड़िशा में 415 और आंध्र प्रदेश में 383 ऐसी हत्याएं हुईं। राजधानी दिल्ली से सटे अपेक्षाकृत एक छोटे राज्य हरियाणा में 209 ऐसी हत्याएं हुईं। ध्यान रहे कि डायनों की हत्याएं प्रायः अंधविश्वासी और भयभीत ग्रामीणों की भीड़ या सुनियोजित जनसमूह द्वारा ही की जाती हैं। ये बात और है कि विभिन्न आंकड़ों में इन हत्याओं को लिंचिंग या भीड़ हत्या के रूप में नहीं गिना जाता। विडंबनात्मक रूप से इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि ये हत्याएं स्वयं आदिवासियों द्वारा आदिवासी महिलाओं की गई होती हैं। या इनमें दलितों ने दलित महिला को ही मारा होता है। भारत के मौजूदा बौद्धिक विमर्श में भीड़ हत्या में गिने जाने के लिए सामुदायिक और राजनीतिक रूप से परस्पर-विरोधी समुदायों का पीड़ित या पीड़क के रूप में शामिल होना जरूरी होता है।

आज भारत में इस प्रकार की हत्याओं में साल-दर-साल बढ़ोतरी देखी जा रही है। किसी समय जब संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में इस तरह की हत्याएं शुरू हुईं, तो जहां 1890 में केवल 137 ऐसी घटनाएं सामने आईं, वहीं दो साल बाद 1892 में यह आंकड़ा बढ़कर 235 हो चुका था। इसलिए भारतीय समाज के लिए यही अच्छा होगा कि समय रहते इस पर एक व्यापक विमर्श हो और इसके लिए जिन-जिन स्तरों पर जो किया जाना हो, वह किया जाए। इस विमर्श में केवल लक्ष्णों का उपचार नहीं, बल्कि मौलिक कारणों को समझकर उसका सर्वांगीण उपचार करने की जरूरत होगी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस तरह की हिंसा कुछ खास समुदायों के खिलाफ ज्यादा दिखाई दे रही है, इसलिए इसका एक राजनीतिक कोण भी इस पर हावी हो जाता है। लेकिन केवल राजनीतिक नजरिए से इस समस्या का इलाज ढूंढने जाएंगे तो यह सुलझने के बजाए और उलझता जाएगा।

भारत में भीड़हत्या पर मौजूदा राजनीतिक विमर्श पीड़ित तबकों में पीड़ाबोध और भय को बढ़ा रहा है और इससे एक सामाजिक अलगाव और बिखराव पैदा होने का खतरा बढ़ रहा है। न केवल पीड़ितों, बल्कि पीड़ितों के पक्ष में खड़े होकर विरोध का स्वर बुलंद कर रहे बौद्धिकों को भी हर प्रकार के छल-बल-कल से डराने-धमकाने की कोशिशें हो रही हैं। ऐसे वातावरण में कोई स्वस्थ बहुपक्षीय संवाद संभव नहीं हो पा रहा।

अज्ञानतावश अत्याचारी पक्ष के साथ मौन सहमति रखने

वाले लोग समझ नहीं पा रहे कि भीड़ हिंसा एक सामाजिक बीमारी है जिसे यदि बढ़ने का मौका दिया जाए तो अंततोगत्वा उसके भीड़शाही या भीड़तंत्र में बदलने का खतरा रहता है। देर-सवेर सभी समुदाय इसके निशाने पर आने लगते हैं और कोई भी सुरक्षित नहीं रह जाता। भीड़हत्या के इतिहास पर एक नजर डालने से यह बात और भी साफ हो जाती है।

अलग-अलग संस्कृतियों में माँब लिंचिंग के क्या कारण थे :

चोरों, अपराधियों या अन्य नस्तों, कबीलों के लोगों को आशंकाजनित भय या सजा देने के उद्देश्य से बांधकर पीटने और जान तक से मारने की घटनाएं दुनिया के उन सभी समाजों में कमोबेश मौजूद रही हैं जो मनुष्यता के विकासक्रम में अपनी बर्बरता को समझ और छोड़ नहीं पा रहे हैं। कुछ समाज इससे पूरी तरह उबर चुके हैं, लेकिन कई समाजों में विभिन्न कारणों से इन घटनाओं में कमी आने के बजाय बढ़ोतरी देखी जा रही है। हमारी उम्र के अधिकतर लोगों ने अपने बचपन में देखा होगा कि किस तरह चोर को पकड़ लिए जाने पर उसका सर मूंडकर कालिख और चूना लगाकर और गदहे पर बिठाकर पूरे गांव-कस्बे में घुमाया जाता था। कई बार उन्हें जूते-चप्पलों की माला भी पहनाई जाती थी। किसी को भी उन्हें लात-मुक्कों से पीटने की छूट होती थी। ऐसे मामलों में प्रशासन प्रायः मूकदर्शक ही बना रहता था।

माँब लिंचिंग पर दुनियाभर में किए गए अध्ययनों में पाया गया है कि रूस के किसान अपने घोड़ों को सबसे बहुमूल्य संपत्ति मानते थे और उनके घोड़े चुराने वालों को वे प्रायः पीट-पीटकर जान से मार देते थे, क्योंकि पुलिस और अदालतों पर उनको भरोसा नहीं होता था। जर्मनी के दो इतिहासकारों मैन्फ्रेड बर्ग और साइमन वेंट ने अपने अध्ययन में पाया है कि बर्लिन में भी ऐसे दृश्य आम होते थे, जहां लोगों की भीड़ किसी भी संदिग्ध बलात्कारी या अपराधी को बुरी तरह पीट रही होती थी। जर्मन पुलिस ऐसे पीड़ितों को उनके चंगुल से छुड़ाती जरूर थी लेकिन भीड़ में शामिल लोगों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जाती थी। जर्मन अखबारों में प्रायः ऐसी भीड़ की प्रशंसा की जाती थी और ऐसी भीड़हिंसा में हुई मौतों की खबर कभी नहीं छपी जाती थी।

लिंचिंग का सबसे क्रूरतम इतिहास संयुक्त राज्य अमेरिका का रहा है :

‘लिंचिंग’ शब्द अमेरिका से ही आया है जिसे कुछ लोग विलियम लिंच, तो कुछ विद्वान चार्ल्स लिंच नाम के एक कैप्टन से

जोड़ते हैं। कहा जाता है कि अमेरिकी क्रांति के दौरान वर्जीनिया के बेडफोर्ड काउंटी का चार्ल्स लिंच अपनी निजी अदालतें बिठाने लगा और अपराधियों तथा विरोधी षड्यंत्रकारियों को बिना किसी कानूनी प्रक्रिया के सजा देने लगा। धीरे-धीरे 'लिंचिंग' के रूप में यह शब्द पूरे अमेरिका में फैल गया। इस अत्याचार का सर्वाधिक शिकार अमेरिका के दक्षिणी हिस्से में बसे अश्वेत अफ्रीकी-अमेरिकी समुदाय के लोग हुए। लेकिन बाद में मैक्सिकन, इतालवी और स्वयं श्वेत अमेरिकी भी इसके शिकार हुए।

तब सैकड़ों लोगों की भीड़ के सामने पेड़ों या पुलों से लटकाकर पहले अंग-भंग कर और जिंदा जलाकर घोर अमानवीय तरीके से हत्याएं की जाती थीं। कान और उंगलियों को काटकर स्मृतिचिह्न के रूप में रखा जाता था। कई बार ये हत्याएं जेल में घुसकर कैदी को बाहर निकालकर उसे सरेआम नृशंसतापूर्वक मारने-जलाने के रूप में होती थीं। अमेरिका स्थित 'नेशनल एसोसिएशन फॉर दी एडवांसमेंट ऑफ कलर्ड पीपुल' के एक आंकड़े के मुताबिक सन् 1882 से 1968 तक अमेरिका में 4,743 लोगों की हत्या भीड़ द्वारा की गई। लेकिन लिंचिंग के शिकार लोगों में जहां 3,446 अश्वेत अफ्रीकी अमेरिकी थे, वहीं 1,297 श्वेत लोग भी थे।

आज भी लिंचिंग को अमेरिकी समाज के ऊपर सबसे बड़ा कलंक का धब्बा माना जाता है। न केवल अमेरिकी समाज बल्कि वूड्रो विल्सन जैसे स्वनामधन्य राष्ट्रपति और थॉमस राई जैसे टैनेसी के गवर्नर की इन घटनाओं के प्रति उदासीनता को भी रेखांकित किया जाता है। फरवरी, 1918 में एक भीड़ ने जिम मैकलेहरॉन नाम के एक अफ्रीकी-अमेरिकी को सरेआम बर्बरतापूर्वक हत्या कर दी।

वह प्रथम विश्वयुद्ध का दौर था और अमेरिका दुनियाभर में स्वतंत्रता, लोकतंत्र और मानवता की रक्षा के नाम पर इसमें शामिल हो चुका था। 'नेशनल एसोसिएशन फॉर दी एडवांसमेंट ऑफ कलर्ड पीपुल' के सचिव ने अमेरिकी राष्ट्रपति को एक टेलीग्राम भेजकर कहा कि दुनियाभर में यदि हम मानवता और न्याय की दुहाई दे रहे हैं तो हमारे अपने देश को कलंकित कर रही ऐसी भीड़हत्याओं की खुलकर सार्वजनिक निंदा आप क्यों नहीं करते? राष्ट्रपति के कार्यालय ने इस टेलीग्राम को अटॉर्नी जनरल को अग्रपिठित कर दिया। अटॉर्नी जनरल के कार्यालय ने जवाब दिया कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों के मुताबिक संघीय सरकार को ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करने का बिल्कुल भी कोई न्यायाधिकार नहीं है।'

एसोसिएशन ने इसके बाद टैनेसी के गवर्नर थॉमस राई से अपील की कि अपने राज्य के सम्मान को बचाने के लिए दोषियों को सजा दिलाने हेतु वे कार्रवाई करें। गवर्नर ने जवाब दिया, 'मैं पहले से कैसे मानकर चल सकता हूँ कि स्थानीय अधिकारी जिनका कर्तव्य है कि वे कैदियों की सुरक्षा करेंगे, वो इसमें विफल रहेंगे। और न ही मैं तब तक कोई कार्रवाई कर सकता हूँ जब तक कि स्थानीय अधिकारीगण या न्यायाधिकारी मुझसे इसके लिए अनुरोध न करें। तो इस तरह साबित हुआ कि बेचारी संघीय सरकार के मुखिया अमेरिकी राष्ट्रपति और राज्य सरकार के पास अपने अश्वेत नागरिकों की रक्षा के लिए कोई अधिकार ही नहीं था। हालांकि साल 2005 में अमेरिकी सीनेट ने सामूहिक रूप से इसके लिए सार्वजनिक माफी मांगी कि जब अमेरिका में भीड़ हत्याओं का सबसे खूनी दौर चल रहा था, तब वह इसके खिलाफ कोई एंटीलिंचिंग कानून बनाने में विफल रही।

अमेरिका में लिंचिंग की बढ़ती प्रवृत्ति से वहां के पूरे समाज पर क्या असर पड़ा :

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि 1882 से 1968 के बीच अमेरिका में 1,297 श्वेत लोग भी भीड़हत्या का शिकार हुए। इनमें से कुछ लोग ऐसे थे जो अश्वेतों से सहानुभूति रखते थे या उनके लिए आवाज उठाते थे। उदाहरण के लिए 1870 में नॉर्थ कैरोलिना के स्टेट सीनेटर जॉन स्टीफेंस को इसलिए श्वेत लोगों ने ही मार डाला क्योंकि वे मुक्त कराए गए अश्वेत गुलामों की मदद करते थे। इसी तरह 1837 में एक अखबार के संपादक और प्रकाशक 35 वर्षीय श्वेत एलीजा लवज्वाय को इसलिए श्वेत लोगों की भीड़ ने ही मार डाला क्योंकि वे अश्वेतों को गुलाम बनाने की प्रथा का अंत करने के पक्षधर थे। 1891 में लूजियाना के न्यू ऑर्लिगन्स शहर में 11 इतालवी अमेरिकियों को श्वेत अमेरिकियों की भीड़ ने मार डाला। उस भीड़ को उकसाने वाले दो नेता बाद में मेयर और गवर्नर तक बने।

कुछ निर्दोष श्वेत लोग प्रतिक्रिया में अश्वेत लोगों की भीड़ द्वारा मार डाले गए। जैसे 1975 में पिज्जो मारियान नाम का एक 54 वर्षीय पोलिश यहूदी मिशिगन में दंगों के बीच फंस गया और अश्वेत युवकों द्वारा मार डाला गया। उसके बारे में कहा गया कि वह गलत समय में गलत लोगों को बीच पड़ गया क्योंकि वह गोरा था और प्रतिक्रिया में पागल हो चुके अश्वेत युवकों को किसी भी तरह का एक गोरा शिकार चाहिए था।

भीड़हत्या की बीमारी जब सामाजिक रूप से फैल जाती है तो वह अंधी हो जाती है। अमेरिका में लिंचिंग के इतिहास में

बड़ी संख्या में निर्दोष लोग भी केवल शक या अफवाह के आधार पर भीड़ द्वारा मार डाले गए। उदाहरण के लिए, 1923 में कोलंबिया के एक प्रोफेसर की बेटी के साथ दुष्कर्म हुआ। भीड़ ने केवल शक के आधार पर जेम्स टी. स्कॉट नाम के एक अश्वेत को मार डाला। बाद में पीड़िता ने असल बलात्कारी के रूप में किसी अन्य युवक की पहचान की। जूरी ने भीड़हत्या के अपराध को ढकने के लिए केवल 11 मिनट की सुनवाई में ही असल बलात्कारी को निर्दोष करार दे दिया।

अब्राहम लिंकन और मार्टिन लूथर किंग जैसे उदारमना व्यक्तियों के विचारों से प्रेरित होकर आज अमेरिकी समाज और प्रशासन अपने आप में सप्रयास बहुत बदलाव ला चुका है। हालांकि अब भी वहां इक्का-दुक्का ऐसी घटनाएं दिख जाती हैं। लेकिन भारत में जिस प्रकार ऐसी घटनाएं हाल के वर्षों में जोर पकड़ती जा रही हैं उन्हें देखकर लगता है कि ऐसी कई समस्याएं हैं जो इस समाज को भीतर-ही-भीतर खाए जा रही हैं। विभिन्न समुदायों के बीच आपसी भय, घृणा और द्वेष एक प्रमुख कारण है जिसकी ओर ध्यान दिए जाने की जरूरत है। हमारी युवा पीढ़ियों में घर करते जा रहे इनमें से ज्यादातर भय और घृणा बेबुनियाद और मनगढ़ंत बातों पर आधारित हैं, इसलिए इन्हें दूर करने का सुसंगठित और सुनियोजित प्रयास करने की जरूरत है। इंटरनेट और सोशल मीडिया के दौर में झूठी खबरों और अफवाहों को पहचानने और इनसे निपटने की दिशा में उन्हें जागरूक किए जाने की जरूरत है।

लिंचिंग की घटनाएं रोकने के लिए एक देश और समाज के रूप में हम क्या कर सकते हैं :

‘कानून के शासन’ में लोगों का विश्वास बढ़े और न्याय-व्यवस्था में उनका भरोसा कायम हो, इस दिशा में कार्य किए बिना भीड़-हत्या पर लगाम लगाना मुश्किल हो सकता है। हम आए दिन देखते हैं कि बलात्कार इत्यादि की किसी भी हृदय-विदारक घटना के बाद यह मांग उठने लगती है कि दोषियों को तुरंत और सरेआम फांसी दो। लोगों में, खासकर युवाओं में बढ़ रही बेरोजगारी, निष्ठलपन, निराशा, हताशा, तनाव और दबाव भी उनमें आक्रोश उत्पन्न कर रहा है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में मिल रही विफलताएं भी उन्हें हारा हुआ और कमजोर अनुभव कराती हैं। और जैसे ही किसी निरीह पर उनको अत्याचार करने का अवसर मिलता है, तो वे बिना सोचे-समझे उस पर टूट पड़ते हैं।

सुधि पाठकों को लोकप्रिय फिल्म ‘मुन्नाभाई एमबीबीएस’ का वह दृश्य याद होगा जिसमें लोग एक साधारण से जेबकतरे पर टूट पड़ते हैं और हरिप्रसाद शर्मा की भूमिका में सुनील दत्त उस जेबकतरे (नवाजुद्दीन सिद्दिकी) को भीड़ से बचाते हुए कहते हैं—‘जानते हो ये (भीड़) कौन हैं? ये हमारे देश की जनता है जनता। इनके चेहरे देखे, कितने गुस्से में हैं! कोई बीवी से लड़कर आया है। किसी का बेटा उसकी बात नहीं सुनता। किसी को अपने पड़ोसी की तरकी से जलन है। कोई मकान मालिक के ताने सुनकर आ रहा है। सरकार के भ्रष्टाचार से लेकर क्रिकेट टीम की हार तक हर बात पे नाराज हैं। लेकिन सब चुप हैं। किसी के मुंह से आवाज नहीं निकलती। और ये सारा गुस्सा तुझपे निकालेंगे। कर दूं इनके हवाले? सर फोड़ देंगे तेरा।’ भीड़-हत्याओं के राजनीतिक निहितार्थों से अलग इसे ठीक से समझने के लिए इस बात को याद रखना भी जरूरी है।

सामाजिक आदान-प्रदान में आती जा रही कमी की वजह से परस्पर-संवाद की जगह एक खालीपन आता जा रहा है। इसलिए अब हर कोई केवल प्रशासन और राजनीतिक नेतृत्व की ओर देखने लगा है। ऐसे में प्रशासन और राजनीतिक नेतृत्व को भी बहुत संवेदनशीलता के साथ इस पूरी परिघटना से निपटना होगा। नहीं तो वे भी एक दिन इससे बच नहीं पाएंगे।

बहुत समय नहीं हुए जब बिहार में गोपालगंज के जिलाधिकारी जी कृष्णैया को गोली मारने से पहले एक नेता द्वारा उत्तेजित भीड़ ने पीट-पीटकर उन्हें बुरी तरह जखमी किया था। डेढ़ साल पहले बिहार के ही बक्सर में मुख्यमंत्री नीतिश कुमार के काफिले पर ही भीड़ ने जानलेवा पथराव करना शुरू कर दिया जिसमें मुख्यमंत्री तो बाल-बाल बच गए, लेकिन उनके कई सुरक्षाकर्मी घायल हो गए। जहां देखो वहीं कोई भीड़ अधिकारियों को खदेड़ने पर आमदा हो जाती है। तेलंगाना में वृक्षारोपण करने गई महिला वनकर्मी पर लाठी बरसा रही भीड़ की तस्वीरें हम देख ही रहे हैं।

इतिहास में तो यह भी दर्ज है कि 1672 में हॉलैंड के निर्वर्तमान प्रधानमंत्री जोहान डी विट्ट तक को एक भीड़ ने नृशंसतापूर्वक नग्न करके मार डाला था। इसलिए इस मामले में केवल जबानी जमाखर्च से काम चलाना और इसका राजनीतिक फायदा उठाना सबके लिए या किसी के भी लिए, कभी भी महंगा पड़ सकता है।

साभार : सत्याग्रह

फ़ीस वृद्धि का दौर शुरू हो गया, चुनाव खत्म हो गया है

हल्द्वानी और देहरादून मेडिकल कॉलेज में फ़ीस बढ़ गई है। ऐसा उत्तराखंड सरकार की नीति के कारण हुआ है। पहले बॉन्ड के साथ पांच लाख फ़ीस थी। अब हर साल चार लाख फ़ीस होगी। यानी बीस लाख फ़ीस ही हो जाएगी।

■ रवीश कुमार



उत्तराखंड के पिथौरागढ़ महाविद्यालय में एक शानदार आंदोलन चल रहा है। यहां की लाइब्रेरी में नई किताबें नहीं हैं। 90 के दशक की किताबें हैं। जमाने बाद किताब को लेकर आंदोलन की बात सुन रहा हूँ। छात्रों के माता-पिता को भी होश आया है। वे भी छात्रों के समर्थन में पोस्टर बैनर लेकर प्रदर्शन कर रहे हैं। प्रयोगशाला की हालत खराब है। यहां सात हजार विद्यार्थी पढ़ते हैं। 120 प्राध्यापकों के पद हैं लेकिन तीस चालीस अध्यापक नहीं हैं। छात्र वहां से मैसेज कर रहे हैं।

बेतिया मेडिकल कॉलेज (बिहार) के छात्रों ने लिखा है कि उनके साथ भेद-भाव किया जाता है। छात्र छात्राएं धरने पर बैठे हैं। मुझे मैसेज किया है।

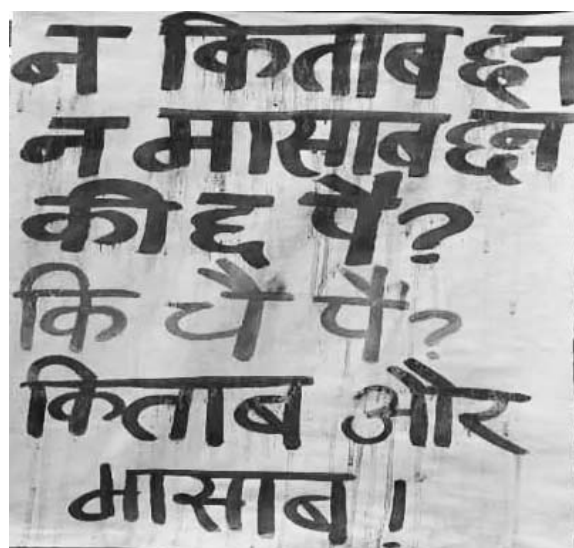
हल्द्वानी और देहरादून मेडिकल कॉलेज में फ़ीस बढ़ गई है। ऐसा उत्तराखंड सरकार की नीति के कारण हुआ है। पहले बॉन्ड के साथ पांच लाख फ़ीस थी। अब हर साल चार लाख फ़ीस होगी। यानी

बीस लाख फ़ीस ही हो जाएगी। छात्र छात्राओं ने इस उम्मीद से मैसेज किया है कि मेरे दिखाने से फ़ीस में कमी हो जाएगी।

नेशनल लॉ स्कूल की फ़ीस बढ़ा दी गई है। हर साल की फ़ीस 50 हजार महंगी हो गई है। डिजिटल इंडिया के छात्रों को इंटरनेट फ़ीस साढ़े बारह हजार देने होते हैं और लाइब्रेरी फ़ीस के लिए दस हजार। 27 फ़ीसदी वृद्धि हुई है। पांच साल की पढ़ाई ढाई लाख और महंगी हो गई है। छात्रों ने मुझे मैसेज किया है।

झारखंड में पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप के तहत कई इंजीनियरिंग कॉलेजों की मान्यता रद्द

कर दी गई है। इससे तीन हजार छात्रों का भविष्य अधर में लटक गया है। राज्य के कई प्राइवेट पॉलिटेकनिक कॉलेजों की मान्यता रद्द कर दी गई है। तीन हजार छात्रों के भविष्य पर संकट है। कई छात्र कोर्ट गए हैं। 17 जुलाई को सुनवाई है। मुझे मैसेज किया है।



मगध यूनिवर्सिटी के कर्मचारियों को कई महीने से वेतन नहीं मिला है। ऐसा मैसेज आया है।

मैंने नौकरी और यूनिवर्सिटी सीरीज बंद कर दी है। कारण कि यह अंतहीन समस्या है। इसका समाधान छात्रों के पास है। इसे कवर करने के लिए मेरे पास पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। सैकड़ों मैसेज से गुजरना बस की बात नहीं इसलिए बिना पढ़े डिलिट कर देता हूं। डेढ़ साल तक गहराई से कवर करने के बाद लगा कि दस-बीस (ठीक में इतने ही) छात्रों के अलावा किसी को दिलचस्पी है नहीं।

छात्र कभी इन सवालों को लेकर ईमानदार नहीं रहते। खुद दिन भर हिन्दू मुस्लिम देखते हैं और जब फीस बढ़ जाती है तो समझ नहीं आता। फीस हर जगह महंगी हुई है लेकिन हर जगह चुप्पी है। बोलने का जोखिम उठाइये।

अब मैं पर्यावरण के सवालों पर ज्ञान बढ़ा रहा हूं। इस विषय के बारे में मेरी मदद करें। मेरा फोकस जलवायु परिवर्तन है। फिर भी यहां लिख रहा हूं। क्या करें। आपकी हालत देखी भी तो नहीं जाती। लेकिन यह न कहें कि मुझसे उम्मीद है। आपने जिन नेताओं को वोट किया है उनसे भी तो कुछ उम्मीद की होगी। उन्हें थोड़ा तकलीफ दीजिए। कुछ अच्छे भी होते हैं। क्या पता काम हो जाए। इस बीच छात्र आपस में सर्वे करें। अपने परिवार में

भी सर्वे करें। किसी न्यूज चैनल में इन विषयों पर स्पीड न्यूज के अलावा चर्चा होती है? क्या उनके अभिभावक इन विषयों को महत्व देते हैं? वो टीवी में क्या देखते रहे हैं? इसका जवाब ईमानदारी से दें। जिन विषयों को आप खुद नहीं देखते हैं, अब जब परेशानी आपके पास आई है तो क्यों चाहते हैं कि लोग आपकी परेशानी देखें? क्या आपने इसके पहले किसी कॉलेज या संस्थान की हालत की खबर देख उस पर लिखा है, चर्चा की है? जब आपको ही इन सवालों से फर्क नहीं पड़ता तो दूसरों को कैसे पड़ेगा?

मेरा एक सुझाव है। नौजवान हैं, थोड़ा स्वाभिमान होना चाहिए। गांधी को पढ़ें। सत्याग्रह के रास्ते पर चलें और बगैर मीडिया के यह सब करें। दूसरे राज्यों के छात्रों से संपर्क करें। कई जगहों पर छात्र कोर्ट जा रहे हैं। वहां से लड़कर जीत भी रहे हैं और हार भी रहे हैं। फिर भी ऐसे छात्रों के प्रति मेरे मन में गहरा सम्मान है। कम-से-कम से वे लड़ रहे हैं। उन्हें पता चल गया है कि अखबार में छपने और टीवी में दिखने से नहीं होता। आप भी यही करें। कोर्ट जाएं। हो सके तो घरों से न्यूज चैनलों का कनेक्शन कटवा दें या गौर से देखें कि कैसे उनमें जनता गायब होती जा रही है। न्यूज चैनल न देखने का आंदोलन चलाइये।



लोकगीत सीठने

लोकसंगीत द्वारा सामाजिक जीवन का कोष संचित हुआ है। जन साधारण के लिए स्वप्न, आदर्श उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोकसंगीत में ही मुखरित होता है। —डॉ. राधाकृष्णन

लोकगीत किसी भी समाज की सामूहिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हैं विशेषतः स्त्री मन की। हरियाणा के लोकगीतों की एक विधा है सीठने। उत्तर प्रदेश में इसे गाली कहा जाता है और पंजाब में सितनी। ये महत्वपूर्ण इस रूप में है कि इसमें स्त्रियों को पुरुषों की खिल्ली उड़ाने का मौका मिलता है। पद सोपानिक क्रम में सत्ता के विभिन्न केंद्रों का मजाक उड़ाया जाता है। मसलन विवाह में वर-पक्ष की खिल्ली उड़ाई जाती है वधू पक्ष की स्त्रियों द्वारा। पति, ससुर, नणदोई, रिशतों में सत्ता के प्रतीक भी हैं उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। यहां तक पुरोहित की भी खिल्ली उड़ाई जाती है। पुरोहित भी वर पक्ष का अधिक सत्तावान तो वधु पक्ष के पुरोहित की बजाए उसका मजाक बनाया जाता है। वर पक्ष की स्त्रियों के संबंध वधू पक्ष की स्त्रियों के साथ जोड़ दिए जाते हैं। विवाह असल में दो परिवारों का मिलन भी है, रस्साकसी व उनमें संघर्ष है। उसे भी ये गीत स्पष्ट तौर पर प्रकट करते हैं। छोटी छोटी जरूरतें व शर्तों को पूरी करने का जिक्र है और उसी में ही माली हालात भी स्पष्ट हो जाते हैं। जो बात वर पक्ष को गंभीर तरीके से नहीं की जा सकती या संबंधों में खटास पैदा कर सकती है उसको हल्के-फुल्के ढंग से इस रूप में कहे जाने का ढंग भी हैं सीठने। पुरुष-प्रधान समाज में पुरुष के लिए सबसे बड़ी गाली की तरह प्रस्तुत होता है उससे स्त्री के लिए निर्धारित काम करवाना। वो करवाने की बात होती है। पुरुषों पर नियंत्रण करने की आकांक्षा के रूप में निकलता है असल में यह उनका आत्मनिवेदन

ही है कि जो उनके साथ प्रतिदिन बीतता है वो व्यक्त करने का अवसर मिल जाता है। हरियाणा के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न बोलियां हैं और सभी में यह रूप है। भाषा का ही मूलतः अंतर है, भावभूमि व विषयवस्तु लगभग समान है। विवाह के मंगल अवसर पर परिवारजन नाच गाकर खुशियां मनाते हैं। सवाल ये उठता है कि ऐसे अवसर पर जब परिवार के समस्त जन छोटे-बड़े, महिला-पुरुष सभी मौजूद हों तो इस तरह के गीतों की जिसमें गालियां, व्यंग्य, तानाकशी, तंज और खिल्ली उड़ाने को स्वीकृति कैसे मिली। लोक जीवन में देह, काम और भाषा में स्त्री-पुरुष के यौन अंगों का चटखारे ले लेकर खूब जिक्र है। पर सामूहिक तौर पर इसकी अभिव्यक्ति की स्वीकृति एक समाजशास्त्री के लिए खोज का विषय हो सकती है। लेकिन ये बात सच है कि इनके माध्यम से न केवल कुंठाएं बल्कि अपनी आकांक्षाएं भी प्रकट होती हैं। आधुनिक जीवन से लोकगीत लुप्त हो रहे हैं, लेकिन शगुन के तौर पर उनकी स्वीकृति है, लेकिन सीठनों को फूहड़ता की श्रेणी में डाल दिया गया है इनकी स्वीकृति दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। ये रिशतों के बदलते स्वरूप का सूचक भी है। बानगी के तौर पर सीठने पाठकों के लिए प्रस्तुत है :

के मोस्सा तूं गाम गया था
के बाहवै था गाड़ी ओ
नया सा बनड़ा पराणा सेहरा,
टूक बराबर भात्ती ओ।

साभार : देस हरियाणा

जड़ता का जहर

जुलाई माह में उत्तर से लेकर दक्षिण भारत के राज्यों से झूठी शान के नाम पर हत्या की चार घटनाएं सामने आई हैं। साफ है कि आधुनिकता और न्याय आधारित समाज बनाने के दावे के बीच महिलाओं को बराबरी और सम्मान की जगह देने के मामले में हम एक समाज और व्यवस्था के रूप में किस कदर नाकाम हुए हैं। तमिलनाडु के थुत्तुकुडी में अंतरजातीय विवाह करने के बाद तीन महीने की गर्भवती युवती और उसके पति की झूठे सम्मान के नाम पर हत्या कर दी गई। इस आरोप में युवती के पिता को गिरफ्तार किया गया है। पिछले हफ्ते ही कोयंबटूर से भी एक दंपती की इसी वजह से हत्या की खबर आई थी। इसके अलावा, उत्तर प्रदेश के इटावा और जेवर से भी दो दिनों के भीतर दो ऐसी घटनाओं की खबरें सामने आई हैं, जिनमें अपनी मर्जी से प्रेम या फिर विवाह करने की वजह से लड़की को उसके परिवार वालों ने मार डाला। प्रेम और विवाह के मामले में पारंपरिक मान्यताओं से इतर अपनी मर्जी से कदम बढ़ाने को इज्जत जाने के रूप में देखना और इसके लिए अपनी संतानों की हत्या कर देने की ये कोई नई घटनाएं नहीं हैं। मगर आजादी के सात दशक बाद हो रही ऐसी घटनाएं बताती हैं कि आज भी हमारा समाज किन मध्ययुगीन सामंती मूल्यों को ढो रहा है। इससे यह भी साफ है कि 'बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ' से लेकर स्त्री सशक्तिकरण के तमाम कार्यक्रमों की कामयाबी अभी कितनी दूर है।

परंपराओं की जड़ता हमारे सामाजिक विकास के रास्ते में इस कदर एक बाधक तत्व बन कर सामने खड़ी है कि एक पिता सिर्फ इस बात के लिए अपनी बेटी और उसके जीवन साथी की हत्या कर दे सकता है कि उन्होंने जातिगत दायरे को तोड़ कर प्रेम और विवाह कर लिया। ऐसी हत्या करने वाले को न इंसान होने की

बुनियादी शर्त को समझना जरूरी लगता है, न उसे कानून का डर सताता है। सवाल है कि आखिर वे कौन-सी वजहें हैं जिनके चलते आज भी बहुत सारे लोग यह समझने के लिए तैयार नहीं हो रहे कि न केवल संवैधानिक व्यवस्था के तहत किसी बालिग युवक या युवती को अपनी पसंद से प्रेम और विवाह का अधिकार है, बल्कि यह एक सभ्य समाज का तकाजा भी है कि किसी वयस्क स्त्री या पुरुष के अपनी जिंदगी के बारे में लिए गए निजी फैसलों का सम्मान किया जाए। माता-पिता या अभिभावक होने के नाते अपने बच्चों का खयाल रखना और उनसे अपने प्रति संवेदना की अपेक्षा करना गलत नहीं है। लेकिन सिर्फ इसी वजह से उनके जीवन को संचालित करने या उन पर कब्जे को अपना अधिकार मानना और इसमें अड़चन आने पर अपने ही बच्चे को मार डालना अपराध और पिछड़ी हुई सामंती सोच का परिचायक है।

विडंबना यह है कि आधुनिकता और विकास के चकाचौंध के नाम पर बाहर से दिखने वाले बदलाव तो चारों तरफ आम हो गए, लेकिन इनके वास्तविक मूल्यों के बारे में समझना जरूरी नहीं समझा गया। हमारा समाज अब तक जिन सामंती मूल्यों के साथ जीता रहा है, उसके साथ अगर केवल दिखावे की आधुनिकता और विकास का घालमेल होता है तो वह शायद ज्यादा घातक होता है। एक ओर जाति की झूठी हैसियत से जुड़ी अमानवीय मानसिकता और दूसरे, बेटी को अपनी इज्जत का पर्याय मान लेना किसी भी समाज के जातिवादी और पुरुष वर्चस्व की मानसिकता में जीने का ही सबूत है। बेटी के अपनी पसंद से प्रेम या विवाह करने पर उसे मार डालना झूठी शान की आड़ में की गई वरुण हत्या ही है, जिसका कोई भी सभ्य और संवेदनशील समाज विरोध करेगा।

साभार : जनसत्ता

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017